निवेदन

जिस प्रकार ज्ञानयोग, कर्मयोग और प्रेमयोगसम्बन्धी लेखोंकी पृथक्-पृथक् तीन पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं, वैसे ही कई प्रेमी भाइयोंके विशेष आग्रहसे मेरे भक्तिसम्बन्धी २९ लेखोंका यह संग्रह तैयार किया गया है। इन लेखोंमें भक्तिके स्वरूप, महिमा और रहस्यका; भक्तोंके लक्षण, महिमा और प्रभावका; नाम-जप, ध्यान, स्मरण, सत्संग, स्वाध्याय, श्रद्धा, प्रेम, शरण आदि भक्तिके साधनोंका एवं भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और स्वभाव आदि भक्तिविषयक परमोच्च भावोंका भलीभाँति निरूपण किया गया है।

भगवद्भक्तिका मार्ग ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंकी अपेक्षा उत्तम और सुगम होनेसे बालक-वृद्ध, स्त्री-शूद्र आदि सभीके लिये सरल है। इस दृष्टिसे यह संग्रह सर्वसाधारणके लिये परम उपयोगी है। ये लेख विभिन्न अवसरोंपर लिखे हुए होनेके कारण इनमें एक ही बात कई बार भी आ गयी है; किंतु इसमें इसलिये आपत्ति नहीं समझनी चाहिये कि भक्तिविषयक एक बात एक बार पढ़ लेनेमात्रसे ही वह सबके हृदयङ्गम नहीं हो पाती है। अतएव उसे बार-बार पढ़कर और समझकर का[illegible] लानेकी आवश्यकता है।

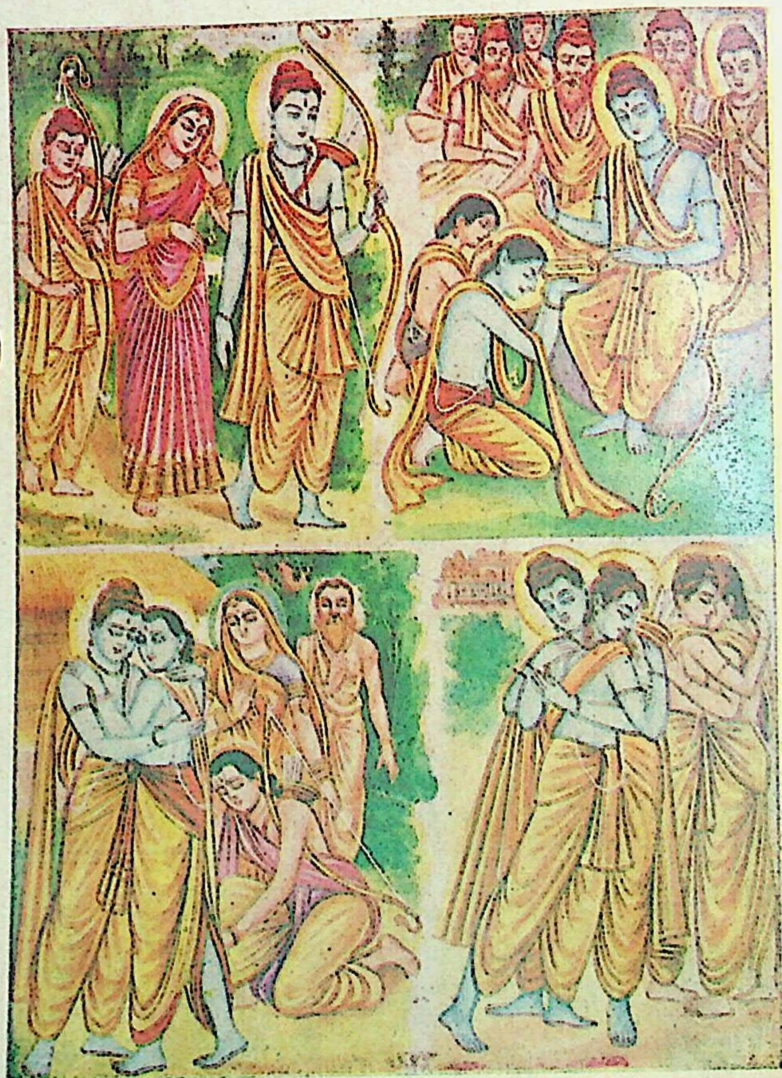
इन लेखोंके भाव भगवान्‌के, भगवद्भक्तोंके और सत्-शास्त्रोंके वचनोंके आधारपर ही लिखे हुए हैं; इसलिये इनके अनुसार जो कोई भी अपना जीवन बनावें उनको भगवत्प्राप्ति होनेमें कोई संशय नहीं है। मेरी सभी पाठकोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे इस संग्रहसे विशेष लाभ उठानेकी कृपा करें।

विनीत

जयदयाल गोयन्दका

विषय-सूची





भगवान् रामका आदर्श त्याग, आदर्श प्रेम

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

भक्तियोगका तत्त्व

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके गुण और चरित्र

जिन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके नाम, रूप, गुण, लीला, प्रेम और प्रभावकी अमृतमयी कथाओंका श्रवण, पठन और मनन ही परम कल्याण करनेवाला है, उन प्रभुके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर, उनके गुण और चरित्रोंको सर्वथा आदर्श मानकर और उनके वचनोंको परमधर्म समझकर जो मनुष्य तदनुसार आचरण करता है उसकी तो बात ही क्या है ! ऐसे पुरुषके दर्शन, स्पर्श, भाषण आदिका सौभाग्य जिस मनुष्यको प्राप्त है, वह भी अत्यन्त धन्य है ।

कुछ भाई कहा करते हैं कि हम भगवान्के नामका जप बहुत दिनोंसे करते हैं, परंतु जितना लाभ बतलाया जाता है

उतना हमें नहीं हुआ। इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के नामकी महिमा तो इतनी अपार है कि उसका जितना गान किया जाय उतना ही थोड़ा है। नाम-जप करनेवालोंको लाभ नहीं दीखता, इसमें प्रधान कारण है दस नामापराधोंको छोड़कर जप न करना। दस*अपराधोंका त्याग करके जप करनेपर नाम-जपका शास्त्र-वर्णित फल अवश्य प्राप्त हो सकता है। दस अपराधोंको सर्वथा त्यागकर नाम-जप करनेवालेको प्रत्यक्ष महान् फल प्राप्त होनेमें तो संदेह ही क्या है; केवल श्रद्धा और प्रेम—इन दो बातोंपर खयाल रखकर जो अर्थसहित नामका जप करता है, उसे भी प्रत्यक्ष परमानन्दकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है। नाम-जपके साथ-साथ परमात्माके अमृतमय स्वरूपका ध्यान होते रहनेसे क्षण-क्षणमें उनके दिव्य गुण और प्रभावोंकी स्मृति होती है और वह स्मृति अपूर्व प्रेम और आनन्दको उत्पन्न करती है। यदि यह कहा जाय कि रामचरितमानसमें नाममहिमामें यह कहा गया है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
(रा० च० मा० बाल० २७।१)

—फिर श्रद्धासहित नाम जपनेसे ही फल हो, ऐसे ही जपनेसे फल न हो यह बात कैसे हो सकती है? तो इसका उत्तर यह है

---

* १ सत्पुरुषोंकी निन्दा, २ अश्रद्धालुओंमें नाम-महिमा कहना, ३ विष्णु और शंकरमें भेदबुद्धि, ४ वेदोंमें अश्रद्धा, ५ शास्त्रोंमें अश्रद्धा, ६ गुरुमें अश्रद्धा, ७ नाममाहात्म्यमें अर्थवादकी कल्पना, ८ शास्त्रनिषिद्ध कर्मका आचरण, ९ नामके बलपर शास्त्रविहित कर्मका त्याग तथा १० अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना—ये दस नामापराध हैं।

कि 'भाव-कुभाव' किसी प्रकार भी नाम-जपसे दसों दिशाओंमें कल्याण होता है, इस बातपर तो श्रद्धा होनी ही चाहिये। इसपर भी श्रद्धा न हो तब वैसा फल कैसे हो सकता है ? इसपर यदि कोई कहे कि 'विचारद्वारा तो हम श्रद्धा करना चाहते हैं, परंतु मन इसे स्वीकार नहीं करता; इसके लिये क्या करें ?' तो इसका उत्तर यह है कि बुद्धिके विचारसे विश्वास करके ही नाम-जप करते रहना चाहिये। भगवान्‌पर विश्वास होनेके कारण तथा नाम-जपके प्रभावसे आगे चढ़कर पूर्ण श्रद्धा और प्रेम आप ही प्राप्त हो सकते हैं। परंतु यदि अर्थसहित जप किया जाय तो और भी शीघ्र परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

बहुत-से भाई कहते हैं कि 'हमलोग वर्षोंसे मन्दिरोंमें भगवान्‌के दर्शन करने जाते हैं, परंतु हमें विशेष कोई लाभ नहीं हुआ—इसका क्या कारण है ? तो इसका उत्तर यह है कि विशेष लाभ न होनेमें एक कारण तो है श्रद्धा और प्रेमकी कमी; तथा दूसरा कारण है भगवान्‌के विग्रह-दर्शनका रहस्य न जानना। मन्दिरमें भगवान्‌के दर्शनका रहस्य है—उनके रूप, लावण्य, गुण, प्रभाव और चरित्रका स्मरण-मनन करके उनके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर देना। परंतु ऐसा नहीं होता, इसका कारण रहस्य और प्रभाव जाननेकी त्रुटि ही है। मन्दिरमें जाकर भगवान्‌के स्वरूप और गुणोंका स्मरण करना चाहिये और भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे उनके मधुर स्वरूपका चिन्तन सदा बना रहे और उनकी आदर्श लीला तथा आज्ञाके अनुसार आचरण होता रहे। जो ऐसा

करते हैं, उन्हें भगवत्कृपासे बहुत ही शीघ्र प्रत्यक्ष शान्तिकी प्राप्ति होती है। देह-त्यागके बाद परमगति मिलनेमें तो संदेह ही क्या है।

श्रीभगवान्‌के अनन्त गुण हैं, उनका वर्णन कोई नहीं कर सकता। वे भगवान् जीवोंपर दया करके अवतार ग्रहण करते हैं और ऐसी लीला करते हैं जिसके श्रवण, गायन और अनुकरणसे जीवोंका परम कल्याण होता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम-चन्द्रजी ऐसे ही परमदयालु अवतार हैं। इनके गुण, प्रभाव, आच-रण, लीला आदिकी महिमा शेष, महेश, गणेश और सरस्वती भी नहीं गा सकते; तब मुझ-सरीखा एक साधारण मनुष्य तो क्या कह सकता है। तथापि जिन सज्जन महापुरुषोंने अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये महाराजके कुछ गुण शास्त्रोंमें गाये हैं, उन्हींके आधार-बलपर बालककी भाँति मैं भी कुछ कहनेकी चेष्टा करता हूँ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुण और चरित्र परम आदर्श थे। और उनका इतना प्रभाव था कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती। उनकी अपनी तो बात ही क्या है, उनके गुणों और चरित्रोंका प्रभाव उनके शासनकालमें सारी प्रजापर ऐसा विलक्षण पड़ा कि रामराज्यमें त्रेतायुग सत्ययुगसे भी बढ़कर हो गया। राम-राज्यके वर्णनमें आता है—

सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुकूल वेदमार्गपर चलते हैं और सुख पाते हैं। भय, शोक, रोग तथा दैहिक, दैविक और भौतिक ताप कहीं नहीं है। राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, झूठ-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुण देखनेको भी नहीं मिलते। सब

लोग परस्पर प्रेम करते हैं और स्वधर्ममें दृढ़ हैं। धर्मके चारों चरणों—सत्य, शौच, दया और दानसे जगत् परिपूर्ण है। स्वप्नमें भी कहीं पाप नहीं है। स्त्री-पुरुष सभी रामभक्त हैं और सभी परम गतिके अधिकारी हैं। प्रजामें न छोटी उम्रमें किसीकी मृत्यु होती है, न कोई पीड़ा है; सभी सुन्दर और निरोग हैं। दरिद्र, दुखी, दीन और मूर्ख कोई भी नहीं है। सभी नर-नारी दम्भरहित, धर्मपरायण, अहिंसापरायण, पुण्यात्मा, चतुर, गुणवान्, गुणोंका आदर करनेवाले, पण्डित, ज्ञानी और कृतज्ञ हैं—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

(रा० च० मा० उत्तर० २०; २०। १–४)

सभी उदार, परोपकारी, ब्राह्मणोंके सेवक और तन, मन, वचनसे एकपत्नीव्रती हैं। स्त्रियाँ सभी पतिव्रता हैं। ईश्वरकी भक्ति और धर्ममें सभी नर-नारी ऐसे संलग्न हैं, मानो भक्ति और धर्म साक्षात् मूर्तिमान् होकर उनमें निवास कर रहे हों। पशु-पक्षी सभी सुखी और सुन्दर हैं। भूमि सदा हरी-भरी और वृक्षादि सदा

फूले-फले रहते हैं। सूर्य-चन्द्रमादि देवता बिना ही माँगे समस्त सुख-दायी वस्तुएँ प्रदान करते हैं। सारे देशमें सुख-सम्पत्तिका साम्राज्य छाया हुआ है। श्रीसीताजी और तीनों भाई तथा सारी प्रजा श्री-रामकी सेवामें ही अपना सौभाग्य मानते हैं और श्रीरामजी सदा उनके हितमें लगे रहते हैं। रामराज्यकी यह व्यवस्था महान् आदर्श है। आज भी संसारमें जब कोई किसी राज्यकी प्रशंसा करता है या महान् आदर्श राज्यकी बात कहता है तो सबसे ऊँची प्रशंसा-में वह यही कहता है कि, बस वहाँ तो 'रामराज्य' है।

जिनके गुणोंसे प्रभावित राज्यमें प्रजा ऐसी हो, उनके गुण और चरित्र कैसे होंगे, इसका अनुमान करते ही हृदय भक्तिसे गद्गद हो उठता है। भगवान्‌के अनन्त गुणों और चरित्रोंका जरा-सा भी स्मरण-मनन महान् कल्याणकारी और परम पावन है, इसी खयालसे यहाँ उनके कुछ गुणोंका बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया जाता है—

गुरुभक्ति

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी गुरुभक्ति आदर्श है। गुरुके प्रति कितनी आदरबुद्धि, कितना विश्वास, उनकी सेवामें कैसी प्रसन्नता और उनके साथ बोलचालमें कैसी विनय होनी चाहिये—इन बातोंका आदर्श श्रीरामकी गुरुभक्तिमें मिलता है। मुनि विश्वामित्रजी आपके शिक्षागुरु हैं। 'विद्यानिधि भगवान्' ने उनसे विद्या ग्रहण की है। मुनिके साथ श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई जनकपुरमें पधारते हैं और गुरुकी आज्ञासे नगरकी शोभा देखनेके बहाने नगरनिवासी नर-

नारियोंको नेत्रोंका परम लाभ प्रदान करनेके लिये जनकपुरमें जाते हैं। वहाँ कुछ देर हो जाती है, तब मनमें संकोच करते हैं कि गुरुजी कहीं नाराज तो न होंगे। इस प्रसङ्गमें श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंबु त्रास मन माहीं॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई॥
... ...
सभय सप्रेम विनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥
(रा० च० मा० बाल० २२४। ३-४; २२५)

रातको दोनों भाई नियमपूर्वक मानो प्रेमसे जीते हुए प्रेमपूर्वक श्रीगुरुजीके चरणकमल दबाते हैं—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
(रा० च० मा० बाल० २२५। ३)

मुनि श्रीवसिष्ठजी आपके कुलगुरु हैं। आप सब प्रकारसे गुरुकी सेवा करनेमें मानो अपना सौभाग्य समझते हैं। वनमें जब वसिष्ठजी भरतजीका पक्ष लेकर भगवान्‌से कहते हैं—

सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २५७)

तब भगवान् श्रीभरतजीपर गुरुका स्नेह देखकर भरतजीके भाग्यकी सराहना करते हुए कहते हैं—

जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥
राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २५८। ३)

'जो मनुष्य गुरुके चरणकमलोंके प्रेमी हैं, वे लोक और वेद दोनोंमें बड़भागी हैं। फिर जिसपर आपका ऐसा स्नेह है, उस भरतके भाग्यको तो कौन बखान सकता है?' और इसी प्रसङ्गमें वसिष्ठजीसे कहते हैं—

..........................। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयसु किएँ मुदित फुर भाषें॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २५७। १-२)

'हे नाथ! उपाय तो आपके ही हाथ है। आपका रुख रखनेमें और आपकी आज्ञाको सत्य कहकर प्रसन्नतापूर्वक पालन करनेमें ही सबका हित है। पहले तो मुझे जो आज्ञा हो, मैं उसी शिक्षाको सिर चढ़ाकर करूँ।'

एक बार वसिष्ठजी भगवान्‌से उनके चरणकमलोंमें जन्म-जन्मान्तरतक प्रेम बना रहे, यह वर माँगने आते हैं और भगवान्‌से एकान्तमें मिलते हैं, उस समय भी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् गुरु-भक्तिका आदर्श स्थापित करनेके लिये—

अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४७। १)

—उनका अत्यन्त आदर करते हैं और चरण धोकर चरणामृत लेते हैं। धन्य!

पितृभक्ति

मर्यादापुरुषोत्तमकी पितृभक्ति भी अनूठी है। पिताकी स्पष्ट

आज्ञाके पालन करनेकी तो बात ही क्या, पिताका संकेत पाकर आपने प्रसन्नतापूर्वक १४ वर्षके लिये अयोध्याके राज्यका त्याग कर दिया। श्रीदशरथजीने वन-गमनके लिये इन्हें स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा नहीं दी थी। कैकेयी माताके द्वारा ही आपको पिता दशरथकी मौन सम्मतिका पता लगा था, उसको आपने स्वीकार किया। भारी-से-भारी विपत्तिको सम्पत्ति मानकर उसे सिर चढ़ा लिया। जब माता कैकेयीने बड़ी कठोरताके साथ सब बातें सुनायीं, तब आपने बड़े हर्षके साथ विनयपूर्ण शब्दोंमें उत्साह दिखलाते हुए कहा—

अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।

(वा० रा० अयोध्या० १८। २८-२९)

'हे माता! मैं महाराज पिताजीकी आज्ञासे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ४०। ४; ४१; ४१। १)

माता कौसल्याजीके पास जब आप बिदा माँगने गये, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपना दुःख सुनाकर इन्हें रोकना चाहा, तब आपने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥
(वा० रा० अयोध्या० २१ । ३०)

'हे माता ! पिताजीकी आज्ञा उल्लङ्घन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है । मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ, तुम प्रसन्न होओ; मैं वनको जाना चाहता हूँ ।'

इसी प्रकार आपने लक्ष्मणजीको धर्मकी महिमा और बड़ोंकी आज्ञाके पालनका महत्त्व समझाते हुए कहा—

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम् ॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम् ।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥
(वा० रा० अयोध्या० २१ । ४१, ४३)

'लोकमें धर्म ही श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य (सत्यस्वरूप परमात्मा) प्रतिष्ठित है । पिताजीका यह वचन भी धर्मसे युक्त है, इसलिये श्रेष्ठ है अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकूँगा । हे भाई ! पिताजीके कथनानुसार माता कैकेयीने मुझे वन जानेकी आज्ञा दी है ।'

सत्यः सत्याभिसन्धश्च नित्यं सत्यपराक्रमः ।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥
(वा० रा० अयोध्या० २२ । ९)

'हे भाई ! मेरे पिताजी नित्य सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी हैं । वे सत्यच्युत होनेके भयसे परलोकके डरसे डर रहे

हैं। मेरेद्वारा उनका यह भय दूर हो, वे निर्भय हो जायँ। अर्थात् मैं वनको चला जाऊँ, जिससे उनके वचन मिथ्या न हों।'

आप अपने शोकमग्न पिताजीसे कहते हैं—'महाराज! इस बहुत ही छोटी-सी बातके लिये आपने इतना दुःख पाया! मुझे पहले किसीने यह बात नहीं जनायी। महाराजको इस दशामें देखकर मैंने माता कैकेयीसे पूछा और उनसे सब प्रसंग सुनकर हर्षके मारे मेरे सब अङ्ग शीतल हो गये। अर्थात् मुझे बड़ी शान्ति मिली। हे पिताजी! इस मङ्गलके समय स्नेहवश सोच करना त्याग दीजिये और हृदयमें हर्षित होकर मुझे आज्ञा दीजिये।' इतना कहते-कहते प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके सब अङ्ग पुलकित हो गये।

अति लघु बात लागि दुखु पावा। काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा॥
देखि गोसाइँहि पूँछिउँ माता। सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता॥
मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ४४। ४; ४५)

धन्य है आपकी पितृभक्तिको, जिसके कारण स्नेहवश होकर सत्यसन्ध दशरथजीने आपका स्मरण करते हुए ही शरीरका त्याग कर दिया।

मातृभक्ति

आपकी मातृभक्ति बड़ी ही ऊँची है। जन्म देनेवाली माता कौसल्याके प्रति तो आपका महान् आदरभाव है ही। विशेष बात तो यह है कि उनसे भी बढ़कर आदर आप उन माता कैकेयीजीका करते हैं, जिन्होंने आपको कठोर वचन कहे तथा वनमें भेजा।

माता कौसल्याने जब कहा कि पितासे माताकी आज्ञा बढ़कर होती है, इससे तुम वनमें न जाओ, तब आपने माता कैकेयीकी आज्ञा बतलायी। माता कौसल्याने उसे स्वीकार किया और कहा—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ५५।१)

श्रीभरतजीके साथ जब कैकेयीजी वनमें पहुँचती हैं तब श्रीरामचन्द्रजी सबसे पहले उन्हींसे मिलते हैं और उन्हें समझा-बुझाकर उनका संकोच दूर करते हैं—

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २४३।४)

'सबसे पहले रामजी कैकेयी मातासे मिले और अपने सरल स्वभाव तथा भक्तिसे उनकी [तपती हुई] बुद्धिको तर (शीतल) कर दिया। फिर चरणोंमें गिरकर काल, कर्म और विधाताके सिर दोष मढ़कर उनको सान्त्वना दी।'

पञ्चवटीमें एक दिन बात-ही-बातमें लक्ष्मणजीने भरतजीकी बड़ाई करते हुए माता कैकेयीकी निन्दा कर दी। उन्होंने कहा—

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥

(वा० रा० अरण्य० १६।३५)

'जिसके पति महाराज दशरथजी और पुत्र साधुस्वभाव भरत-जी हैं, वह माता कैकेयी ऐसी निर्दय स्वभाववाली कैसे हुई?'

यह सुनते ही भगवान् श्रीरामजीने कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(वा० रा० अरण्य० १६। ३७)

'हे तात! तुमको मझली माता कैकेयीकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। इक्ष्वाकुकुलनाथ भरतकी ही बात करो।'

और तो क्या, लंका-विजयके पश्चात् जब दिव्यधामसे महाराज दशरथजी आये तब उनसे भी आप हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे धर्मज्ञ! आप मेरी माता कैकेयी और भाई भरतपर प्रसन्न हों। आपने जो कैकेयीको यह शाप दिया था कि मैं तुम्हारा पुत्रसहित त्याग करता हूँ—यह भयंकर शाप, हे प्रभो! पुत्रसहित माता कैकेयीको स्पर्श भी न करे।'

इति ब्रुवाणं राजानं रामः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥
सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया।
स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो॥
(वा० रा० युद्ध० ११९। २५-२६)

जब अयोध्या लौटते हैं, तब भी पहले माता कैकेयीसे मिलते हैं और समझा-बुझाकर उन्हें सुखी करते हैं। इससे बढ़कर मातृ-भक्तिका और क्या उदाहरण होगा!

भ्रातृप्रेम

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामके भ्रातृप्रेमका आदर्श जगत् मान ले तो सारी कलह मिटकर सब भाइयोंमें शान्ति हो जाय। आप लड़कपनसे ही अपने तीनों

भाइयोंसे अत्यन्त प्रेम करते थे। सदा उनकी देख-भाल करते और उन्हें सुख पहुँचाने तथा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते। समय-समयपर खेलमें स्वयं हार मानकर उन्हें जिता देते थे। तीनों भाइयोंको एक साथ लेकर ही भोजन करते। विवाह भी चारोंके साथ ही हुए।

जब महाराज दशरथजीने रामजीके राज्याभिषेकका आयोजन किया, तब यह सुनकर आपके मनमें बड़ा ही खेद हुआ। आपने पश्चात्ताप करते हुए कहा—हमारे निर्मल कुलमें यह एक प्रथा बड़ी अनुचित है जो दूसरे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़े भाईको राज्य दिया जाता है। अरे, हम सब जन्मे एक साथ, खाना, पीना, सोना, जागना, लड़कपनके खेल, कर्णवेध और उपनयन-संस्कार सब एक साथ हुए और विवाहोत्सव भी सबके एक साथ हुए, अब यह राज्य मुझ अकेलेको क्यों मिलता है?

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ९। ३-४)

श्रीरामजीको अपने राज्याभिषेकका प्रस्ताव बहुत ही अनुचित जँचा; केवल पिताजीकी आज्ञा, प्रजाके हित और भाइयोंकी प्रसन्नताके लिये ही उन्होंने अपना राज्याभिषेक स्वीकार किया था। इसीसे वन जानेके समय भरतको राज्य मिलनेकी बातसे आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। वनमें आपने लक्ष्मणजीसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा—

'हे लक्ष्मण! मैं सत्यपूर्वक और आयुधको छूकर प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और समस्त पृथ्वी तथा और

जो कुछ भी चाहता हूँ, सब तुम्हीं लोगोंके लिये। मैं भाइयों (तुम्हीं लोगों) के संग्रह और सुखके लिये राज्यकी इच्छा करता हूँ। हे लक्ष्मण! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिले तो उसको आग जला दे।'

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी॥
(वा० रा० अयोध्या० ९७। ५, ६, ८)

लक्ष्मणजीके सामने आप भरतजीकी प्रशंसा करते-करते नहीं अघाते और भरतका गुण, शील, स्वभाव कहते-कहते प्रेमार्णवमें डूब जाते हैं—

कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २३१। ४)

चित्रकूटमें भरतने जब श्रीरामजीको लौटानेके लिये बहुत ही अनुरोध किया तब आपने कह दिया, 'भरत! सुनो, पिताजीने मेरे प्रेमका प्रण निबाहनेके लिये प्राण त्याग दिये, परंतु सत्यके रक्षार्थ उन्होंने मुझको वनमें भेजा। ऐसे सत्यवादी पिताके वचन टालनेमें मुझको बड़ा संकोच है, परंतु उससे भी बढ़कर संकोच मुझे तुम्हारा है। तुम संकोच छोड़कर जो कह दो मैं वही करनेको तैयार हूँ। प्रसन्न होकर कहो—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु ।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २६४)

श्रीभरतजी भी तो आपके ही भाई थे । उन्होंने स्वामीको संकोचमें डालना अनुचित समझा और उन्हींको संकोच छोड़कर आज्ञा देनेको कहा । परंतु श्रीरामजीका भ्रातृप्रेम यहाँपर पराकाष्ठाको पहुँच गया । वे जन्म देनेवाली माताके वचनोंको न मानकर वनमें चले आये थे, परंतु आज भरतको कह रहे हैं कि तुम जो कहो सो करनेको तैयार हूँ ।

श्रीरामचन्द्रजीने पिताजीकी आज्ञाको निमित्त बनाकर, वसिष्ठ-जनकादि गुरुजनोंको तथा भरतको समझा-बुझाकर संतोष प्रदान किया और अन्तमें जिस किसी प्रकारसे भी राज्यका पालन भरतजीके जिम्मे लगाया । राज्य और भोग तुच्छ वस्तु हैं—यहाँ आपने इस बातको अपने व्यवहारसे प्रत्यक्ष सिद्ध करके त्यागका एक महान् आदर्श उपस्थित कर दिया । भरतजी भी त्यागमूर्ति थे, उन्होंने प्रभुकी आज्ञा मानकर केवल राज्यका पालन ही स्वीकार किया, राज्य नहीं । वे चौदह वर्षकी अवधितक अयोध्याके राज्यमें वैसे ही निर्लिप्त रहे, जैसे चम्पाके बागमें भ्रमर रहा है—'चंचरीक जिमि चंपक बागा ।'

श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगती है और वे बेहोश हो जाते हैं । उस समयकी रामकी दशा तो भ्रातृप्रेमका बहुत ही सुन्दर आदर्श है । वे कहते हैं—

परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम् ।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्द्धनः ॥

(वा० रा० युद्ध० ४९ । ७)

'यदि सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मणके प्राण चले जायँगे तो मैं भी वानरोंके देखते-देखते ही अपने प्राणोंको त्याग दूँगा ।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने यहाँपर श्रीरामजीके प्रलापका जो वर्णन किया है, उससे भ्रातृप्रेमकी बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है ।

लङ्का-विजयके पश्चात् जब विभीषण एक बार लङ्कामें पधारनेके लिये आपसे प्रार्थना करते हैं, तब आप कहते हैं— 'भाई ! तुम्हारा खजाना और घर सब मेरा ही है, यह तुम सत्य जानो । परंतु भाई भरतकी दशाका स्मरण करके मुझे एक-एक निमेष कल्पके समान बीत रहा है । वह शरीर सुखाये तपस्वीके वेषमें निरन्तर मुझे ही याद कर रहा है, हे मित्र ! अब तो वह यत्न करो, जिससे मैं उसे जल्दी देख सकूँ । हे भाई ! यदि मैं अवधि बीतनेपर जाऊँगा तो प्यारे भाईको जीता न पाऊँगा ।' यों कहकर भरतजीके प्रेमका स्मरण करके प्रभुका शरीर बार-बार पुलकित होने लगा ।

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर ।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर ॥

(रा० च० मा० लङ्का० ११६ ग)

जब अयोध्यामें पहुँचते हैं, तब तो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है । जमीनपर पड़े हुए भरतजीको जबरदस्ती उठाकर आप हृदयसे

लगा लेते हैं; शरीर रोमाञ्चित हो जाता है और कमलके समान नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगती है।

फिर जब राज्याभिषेककी तैयारी होती है, सबका स्नान-मार्जन होता है तब प्रभु स्वयं अपने हाथोंसे भरतजीकी जटाको सुलझाते हैं और तीनों भाइयोंको स्वयं भलीभाँति नहलाते हैं। धन्य भ्रातृप्रेम !

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे ॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगत बछल कृपाल रघुराई ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १० । २-३)

श्रीरामका राज्यग्रहण वास्तवमें भाइयोंको सुख पहुँचानेके लिये ही था। वे समय-समयपर जो उपदेश-आदेश दिया करते थे, वह भी भाइयोंके हितके लिये ही। उनका बर्ताव ऐसा होता था कि जिसमें भाइयोंको कोई संकोच न हो। एक बार जब भरतजी कुछ पूछना चाहते थे और संकोचवश स्वयं न पूछकर उन्होंने जब हनुमान्‌जीके द्वारा पुछवाया तब आपने कहा था—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ३५ । ४)

अधिक क्या, आप अपने भाइयोंके गुण-गान और उनके स्मरणमें ही सुखी रहते थे—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २१७ । ४)

हनुमान्‌जीने कहा है—

रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सद्‌गुन सिंधु सो ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १ । छंद)

इस प्रकार भ्रातृप्रेमका आदर्श उपस्थित करके आपने परमधामकी यात्रा भी अपने भाइयोंके साथ ही की थी। आज भी इन चारों भाइयोंका आदर्श प्रेम जगत्में सबके लिये महान् शिक्षाप्रद बना है और सदा बना रहेगा।

पत्नीप्रेम और एकपत्नीव्रत

भगवान् श्रीरामका सीताजीके प्रति जो आदर्श प्रेम था, वह उनके महान् एकपत्नीव्रतका साक्षात् उदाहरण है। सीताजीकी प्रसन्नताके लिये ही आप उनको वनमें साथ ले जाते हैं और वहाँ नाना प्रकारके इतिहास, धर्मशास्त्र आदि सुनाकर उनको सुख पहुँचाते हैं। जब रावणद्वारा सीताजीका हरण हो जाता है, तब साधारण मानवकी तरह 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (जो मुझे जैसे भजता है, उसको मैं वैसे ही भजता हूँ) इस नीतिके अनुसार भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए अपनी विरह-वेदना प्रकट करते हैं। यहाँतक कि उनकी उस विरहदशाको देखकर जगज्जननी सतीतकको मोह हो जाता है। श्रीरामजी उन्मत्तकी भाँति—

हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील व्रत नेम पुनीता॥
(रा० च० मा० अरण्य० २९। ४)

—आदि पुकारते हुए लताओं, वृक्षों, पक्षियों, पशुओं और भ्रमरोंकी पङ्क्तियोंसे सीताजीका पता पूछते हैं। आकाशपथसे गिराये हुए सीताजीके वस्त्राभूषण जब सुग्रीवजी आपको देते हैं तब आप उन्हें हृदयसे लगाकर चिन्ता करने लगते हैं—'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।' जब हनुमान्‌जी लङ्का जाते हैं तब उनके द्वारा

आप जो संदेश भेजते हैं, वह तो इतना सुन्दर और इतना ऊँचा है कि उनमें प्रेमका समस्त स्वरूप ही आ जाता है। वे कहते हैं— 'हे प्रिये! मेरे और तुम्हारे प्रेमका तत्त्व जानता है केवल एक मेरा मन और वह मन सदा रहता है तुम्हारे पास! बस, इतनेमें ही मेरे प्रेमका सार समझ लो!'

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
(रा० च० मा० सुन्दर० १४। ३-४)

महारानी जानकीजीके पातिव्रत धर्मके गौरवको और भी उज्ज्वल करनेके लिये प्रजारञ्जनके व्याजसे जब उन्हें वनमें भेज देते हैं, तब पीछेसे अश्वमेधयज्ञमें सीताजीकी स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर आप अपने एकपत्नीव्रतका बड़ा ही पवित्र आदर्श उपस्थित करते हैं। धन्य!

भक्तवत्सलता

भक्तवत्सलता तो भगवान्‌का विख्यात बाना ही है। ऐसा कोई काम नहीं जो भगवान् अपने भक्त या सेवकके लिये नहीं कर सकते। वस्तुतः भगवान्‌के अवतारका प्रधान हेतु भक्तोंपर अनुग्रह करना ही होता है 'परित्राणाय साधूनाम्।' जब भक्त भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है तब भगवान्‌को स्वयं पधारना पड़ता है। दण्डकारण्यमें सुतीक्ष्ण नामक अगस्त्यजीके शिष्य एक मुनि रहते थे। वे श्रीरामजीके बड़े ही अनन्य भक्त थे। उन्हें समाचार मिला कि भगवान् श्रीराम दण्डकवनमें आये हैं। वे दर्शनके लिये व्याकुल हो गये और पागलकी भाँति उठ दौड़े।

वे प्रेममें ऐसे मग्न हो गये कि शरीरकी सुधितक भूल गये। श्रीशिवजी कहते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
(रा० च० मा० अरण्य० ९। ५-६)

भक्तवत्सल भगवान् अपने प्रिय भक्तकी यह दशा वृक्षकी ओटसे देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे। मुनिका अत्यन्त प्रेम देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। मुनि हृदयमें भगवान् अवधनाथके दर्शन पाकर पुलकित हो गये और रास्तेमें ही बैठ गये। भगवान् समीप आकर मुनिको ध्यानसे जगाते हैं, परंतु ध्यानानन्दमें मतवाले मुनि जागते ही नहीं, तब श्रीरामजीने उनके हृदयसे अपना श्रीरामरूप हटा लिया; तब मुनिने व्याकुल होकर आँखें खोलीं। देखते हैं—नेत्रोंके सामने सुखधाम राम उपस्थित हैं। मुनि कृतार्थ हो गये और प्रेममग्न होकर चरणोंपर गिर पड़े—

आगें देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी॥
(रा० च० मा० अरण्य० ९। १०-११)

इसी प्रकार भगवान्ने शबरीजीके यहाँ स्वयं पधारकर उनकी अभिलाषा पूर्ण की। और—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥
(रा० च० मा० अरण्य० ३४। ३)

—कहकर उन्हें बड़ाई दी। उनके प्रेमभरे फलोंको खा-खाकर

आप अघाये ही नहीं। काकभुशुण्डिजीको तो प्रत्येक अवतारमें ही अपनी परम मधुर बाललीलाका आनन्द प्रदान करते हैं। धन्य हैं!

श्रीहनुमान्‌जीके तो आप अपनेको ऋणी मानते हैं! कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखउँ करि बिचार मन माहीं॥
(रा० च० मा० सुन्दर० ३१। ३-४)

वाल्मीकिरामायणमें भगवान्‌ने हनुमान्‌से कहा है—

चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका॥
तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा।
लोका हि यावत्स्थास्यन्ति तावत्स्थास्यन्ति मे कथाः॥
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥
(वा० रा० उत्तर० ४०। २१-२४)

'हे हनुमान्! इस लोकमें जबतक मेरी यह कथा चालू रहेगी, तबतक तेरी कीर्ति और तेरे शरीरमें प्राण रहेंगे। और जबतक जगत् रहेगा तबतक मेरी कथा रहेगी। तेरे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी तेरे शेष उपकारोंके लिये तो मैं तेरा ऋणी ही बना रहूँगा। हे हनुमान्! तूने मेरा जो कुछ उपकार किया है, वह मेरे शरीरमें ही जीर्ण हो जाय, ऐसा अवसर ही न आवे जब तुझे उपकारोंका बदला पाने योग्य पात्र बनना पड़े; क्योंकि आपत्ति पड़नेपर ही मनुष्य प्रत्युपकारका पात्र होता है'

शरणागतवत्सलता

भगवान्‌की शरणागतवत्सलता प्रसिद्ध है। उनकी घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर, 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है उसको मैं सब भूतोंसे अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

रावणको सुन्दर सीख देनेके बदलेमें चरणप्रहार पाकर विभीषण नाना प्रकारके सात्त्विक मनोरथ करते हुए भगवान्‌के शरण आते हैं। जब शिविरके द्वारपर पहुँचते हैं तो वानर उन्हें घेर लेते हैं। भगवान्‌के पास संवाद पहुँचता है। भगवान् श्रीरामजी अपने सब मन्त्रियों, सखाओं और सेनापतियोंसे सम्मति चाहते हैं। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार वहाँ अंगद, जाम्बवान्, मैन्द, नल, हनुमान् आदि सब अपनी-अपनी सम्मति देते हैं। हनुमान्‌के सिवा सभीकी सम्मति विभीषणके विरुद्ध ही होती है। रामचरितमानसमें सुग्रीव कहते हैं—राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती; पता नहीं, यह क्यों आया है। यह रावणका भेजा हुआ दुष्ट हमारा भेद लेने आया होगा। मेरा मन तो ऐसा कहता है कि इसे कैद कर लेना चाहिये—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥
(रा० च० मा० सुन्दर० ४२। ३-४)

भगवान् श्रीरामजीने कहा—मित्र ! तुम्हारी नीति तो ठीक है, परंतु मेरा प्रण है शरणागतके भयको हरना—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी । मम पन सरनागत भयहारी ॥

× × ×

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

(रा० च० मा० सुन्दर० ४२ । ४; ४३; ४३ । १)

अतएव हे सुग्रीव ! जाओ, उसे ले आओ । सुग्रीव आदिके स्नेहवश आपत्ति करनेपर रामजीने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया—

जौं सभीत आवा सरनाईं । रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥

(रा० च० मा० सुन्दर० ४३ । ४)

यहाँतक कि—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥

(वा० रा० युद्ध० १८ । ३४)

'हे वानरश्रेष्ठ सुग्रीव ! (तुम घबराते क्यों हो ?) यह व्यक्ति विभीषण अथवा स्वयं रावण भी हो, तो भी उसको लिवा लाओ । मैंने उसे भी अभयदान दे दिया ।'

सुग्रीवजी आदि उन्हें ले आये । भगवान्‌ने उनको अपनी शरणमें रखकर कृतार्थ कर दिया ।

लङ्काके युद्धके समय एक बार रावणने क्रुद्ध होकर विभीषणपर शक्ति छोड़ी । शक्तिके लगते ही विभीषणका मरण हो जायगा, यह

जानकर शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामजी तुरंत ही विभीषणको पीछे करके स्वयं सामने आ गये और भयानक शक्तिको अपने वक्षःस्थलपर ले लिया।

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥
(रा० च० मा० लङ्का० ९३। १)

विभीषणको राज्य तो मिला ही। उन्हें भगवान्ने अपनी परम दुर्लभ भक्ति प्रदान की।

सखाओंसे प्रेम

यों तो भगवान् सभीके परम सुहृद् तथा स्वाभाविक ही मित्र हैं, परंतु लीलामें वे मित्रोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं—यहाँ आज यही देखना है। मनुष्योंको तो सभी अपना मित्र बनाते हैं, भगवान्ने राक्षस और वानर-भालुओंतकको अपना सखा बनाकर उन्हें धन्य किया। हनुमान्जीकी प्रेरणासे दुःखमें डूबे हुए सुग्रीवको अग्निकी साक्षी देकर आप अपना मित्र बनाते हैं और उनका दुःख सुनते ही आपकी भुजाएँ फड़क उठती हैं और आप कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
(रा० च० मा० किष्किन्धा० ६)

तदनन्तर मित्रका धर्म बतलाते हुए आप कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० ६। १—३)

मित्रके ये लक्षण सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं। इसके बाद भगवान् सुग्रीवको आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० ६। ५)

मित्र सुग्रीवके सुखके लिये बड़ा भारी उलाहना सहकर भी भगवान् उसके शत्रु भाई वालीका वध कर डालते हैं और सुग्रीवकी मैत्रीको निबाहते हैं।

निषादको सखा बनाकर इतना ऊँचा बना दिया कि स्वयं वसिष्ठजी महाराज उसे हृदयसे लगाकर मिलने लगे—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २४२। ३)

जब भगवान् स्वयं किसी प्रकारका विचार न करके सखाभावसे निषादको हृदयसे लगाकर मिलते हैं, तब वसिष्ठजी इस प्रकार मिलें, इसमें क्या आश्चर्य है—

हिंसारत निषाद तामस बपु पसु समान बनचारी।
भेंट्यो हृदयँ लगाइ प्रेमबस नहिं कुल जाति बिचारी॥

(विनयपत्रिका १६६)

लङ्काविजय करके अयोध्या लौटनेपर अपने इन वानर-भालु

और विभीषणादि सखाओंको बुलाकर उनसे गुरुजीके चरणोंमें प्रणाम कराते हैं और परिचय देते हुए आप कहते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥
(रा० च० मा० उत्तर० ७।४)

राज्याभिषेकके पश्चात् अपने इन सब मित्रोंको बुलाकर आपने कहा—

अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥
(रा० च० मा० उत्तर० १५।३-४)

फिर वस्त्राभूषण मँगवाकर तीनों भाइयोंसहित स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने हाथोंसे उनको वस्त्राभूषण पहनाकर विदा किया।

भगवान्‌के उन बालसखाओंकी महिमा तो कह ही कौन सकता है, जिन्होंने श्रीअवधपुरीमें चारों भाइयोंके साथ खेलने-खानेका सौभाग्य प्राप्त किया था।

दयालुता

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको दयाका सागर कहें, तब भी उनकी अपरिमित दयाका तिरस्कार ही होता है। जीवोंपर उनकी जो दया है, वह कल्पनातीत है। मनुष्य अपनी ऊँची-से-ऊँची कल्पनासे उनकी दयाका जहाँतक अनुमान लगाता है, भगवान्‌की दया उससे अनन्तगुना अधिक ही नहीं, असीम और अत्यन्त विलक्षण है। भगवान् वस्तुतः दयामय ही हैं। 'है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है।' गीतामें भगवान् कहते हैं—'सुहृदं सर्वभूतानां

ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (५ । २९) मुझको सब भूतोंका सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है ।

अवश्य ही भगवान्‌की दया दोनों रूपोंसे सामने आती है । कहीं वह प्रेमके रूपमें दर्शन देती है, कहीं दण्डके रूपमें । राक्षसों-को भगवान्‌ने मारा, परंतु मारा नहीं, वास्तवमें तार दिया । भगवान्‌का क्रोध भी मुक्ति देनेवाला है । 'निर्बानदायक क्रोध जाकर' । भगवान्‌के हाथोंसे जितने 'राक्षस मरे, सबको दुर्लभ गति प्राप्त हुई । कुछके नमूने देखिये—

ताड़काको—

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा । दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ॥

(रा० च० मा० बाल० २०८ । ३)

विराधको—

तुरतहिं रुचिर रूप तेहिं पावा । देखि दुखी निज धाम पठावा ॥

(रा० च० मा० अरण्य० ६ । ४)

खर-दूषणादिको—

राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान ।

(रा० च० मा० अरण्य० २० क)

मारीचको—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना । मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना ॥

(रा० च० मा० अरण्य० २६ । ९)

कुम्भकर्णको—तासु तेज प्रभु बदन समाना ।

(रा० च० मा० लंका० ७० । ४)

रावणको—तासु तेज समान प्रभु आनन।

(रा० च० मा० लंका० १०२।५)

सभी राक्षसोंको—

रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन॥

(रा० च० मा० लंका० ११३।४)

इस प्रकार अपनेको दीन न समझनेवाले अति दीन राक्षसोंपर दया करके भगवान्‌ने उनको मारकर तार दिया।

प्रेमसे तो आपने अनेकोंको अपनाया है। सारे वानर-भालुओंको वह गौरव दिया जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको भी दुर्लभ है—

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥

(रा० च० मा० बाल० २९ क)

गौतम मुनिकी पत्नी अहल्या पतिके शापवश पाषाणकी शिला हो गयी थी। उस बेचारीमें यह भी शक्ति नहीं थी कि आर्त्त होकर भगवान्‌को पुकार सके। उसकी दीन दशा देखकर दयामय भगवान्‌ने स्वयं वहाँ पधारकर अपने चरण-स्पर्शसे उसका उद्धार किया।

केवटसे पैर धुलवाकर उसे अपना सुर-मुनि-दुर्लभ चरणोदक देकर परिवारसहित पार कर दिया।

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १०१)

दण्डकवनको स्वयं पधारकर शापमुक्त किया और वहाँ एक

स्थानपर ऋषियोंकी हड्डियोंका ढेर देखकर प्रभु दयापरवश हो गये ।

अस्थि समूह देखि रघुराया । पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥
(रा० च० मा० अरण्य० ८ । ३)

मुनियोंने दुखी मनसे कहा—भगवन् !

निसिचर निकर सकल मुनि खाए । सुनि रघुबीर नयन जल छाए ॥
(रा० च० मा० अरण्य० ८ । ४)

—राक्षसोंने सारे मुनियोंके समूहोंको खा डाला । यह हड्डियोंका ढेर उन्हीं मुनियोंके शरीरोंका है । यह सुनकर और उनके दुःखको देखकर श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंमें जल छा गया और उन्होंने प्रतिज्ञा की—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
(रा० च० मा० अरण्य० ९)

दीन सुग्रीवको वालीके महान् अत्याचारसे बचाया । अङ्गदको दीन जानकर अपनाया और उसे युवराजपद दिलाया ।

गीधराज जटायुपर जो दया हुई, वह तो सर्वथा अनूठी है । रावणके द्वारा घायल होकर जटायु दीन दशामें पड़ा है । श्रीरघुनाथजी उसके समीप पहुँचते हैं और उसकी दीन दशा देखकर दुखी हो जाते हैं, उठाकर उसे अपनी गोदमें ले लेते हैं और नेत्रोंमें जल भरकर उसे आश्वासन देते हुए अपने कोमल कर-कमलोंको उसके मस्तकपर फिराते हुए उसे सुखी करते हैं । किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

दीन मलीन दयालु बिहंग पर्‌यो महि सोचत खिन्न दुखारी ।
राघव दीनदयालु कृपालु को देख दुखी करुना भइ भारी ॥

गीध को गोद में राखि कृपानिधि नैन सरोजन में भरि बारी ।
बारहिं बार सुधारहिं पंख जटायुकी धूरि जटान सों झारी ॥

श्रीरघुनाथजीने कहा—'हे तात ! आप कुछ दिन और जीवन धारण कीजिये और मुझे पिताका सुख दीजिये !' गीध बड़ा चतुर था, उसने कहा—

जा कर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥
सो मम लोचन गोचर आगें । राखौं देह नाथ केहि खाँगें ॥
(रा० च० मा० अरण्य० ३० । ३-४)

इतना कहकर भगवान्‌की गोदमें ही उनकी ओर निर्निमेष दृष्टिसे देखते हुए और मुखसे श्रीरामका पवित्र नाम उच्चारण करते हुए जटायुने मुनिदुर्लभ शान्ति प्राप्त की । तदनन्तर दयामय प्रभुने अपने हाथोंसे उसकी वैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया की जैसे अपने पिताकी करते हैं—

पितु-ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो ।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो ॥
(गीतावली, अरण्य० १६)

दयालुताका कैसा अनुपम उदाहरण है !

प्रजावत्सलता

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने सुन्दर बर्ताव और वत्सलतापूर्ण क्रियाओंसे प्रजाके कितने अधिक प्रेमभाजन हो गये थे, इसका पता तब लगता है जब उनके वनगमनकी तैयारी होती है। राज्याभिषेकके उत्सवसे तमाम प्रजामें आनन्द छा रहा है । प्रजामें हर्षका सागर उमड़ उठता है । अचानक दृश्य बदल जाता है । श्रीराम लक्ष्मण

और सीताजीको साथ लेकर मुनिवेशमें वनको पधार रहे हैं। प्रजा इस दृश्यको देख न सकी। प्रजा उनके विरहदुःखको सहनेमें अपनेको असमर्थ पाकर उनके साथ हो ली। श्रीरघुनाथजीने उन्हें बहुत प्रकारसे समझाया, परंतु प्रेमवश कोई भी अयोध्यामें रहना नहीं चाहता।

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ८३। ३)

यह निश्चय करके बालक और वृद्धोंको घरोंमें छोड़कर सब उनके साथ हो लिये—

बालक बृद्ध बिहाइ गृहँ लगे लोग सब साथ।
(रा० च० मा० अयोध्या० ८४)

आखिर श्रीरामजीको उन्हें सोये छोड़कर ही आगे बढ़ना पड़ा। जब श्रीभरतजी चित्रकूट जाने लगे, तब प्रजामें श्रीरामदर्शनकी इतनी उत्सुकता बढ़ी कि घरोंकी रखवालीके लिये किसीने घर रहना स्वीकार नहीं किया। जिसको घर रहनेके लिये कहा जाता वही समझता मानो मेरी गर्दन कट रहा है।

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदनि मारी॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १८४। ३)

सब लोग भरतजीके साथ चित्रकूट गये।

जब श्रीरघुनाथजी लंका-विजय करके लौटे तब तो प्रजाके हर्षका पार न रहा। समाचार पाते ही वे सब-के-सब नर-नारी, जो

जैसे बैठे थे, वैसे ही उठकर दौड़ पड़े। श्रीभगवान्‌को लक्ष्मणजी और जानकीजीसहित देखकर सब अयोध्यावासी हर्षित हो गये। उनकी वियोगजनित विपत्ति नष्ट हो गयी। सब लोगोंको प्रेम-विह्वल तथा मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर देखकर भगवान् श्रीरामजीने एक चमत्कार किया। उसी समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले। श्रीरघुवीरजीने कृपादृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकरहित कर दिया। भगवान् क्षणमात्रमें इस प्रकार सबसे मिल लिये। शिवजी कहते हैं—हे उमा! यह रहस्य किसीने नहीं जाना।

प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी॥
प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥
(रा० च० मा० उत्तर० ५। २—४)

सच पूछिये तो प्रजाके सुख और संतोषके लिये ही श्रीरामजीने राज्यपद स्वीकार किया। और वास्तवमें यही आदर्श है। जो प्रजाके सुखके लिये ही राजा बनता है, वही राजा यथार्थ राजा है। अवधवासियोंके भाग्यका तो कहना ही क्या है, जहाँ प्रेम-परवश स्वयं भगवान् राजा बने हैं। शिवजी कहते हैं—

उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४७)

आपकी प्रजावत्सलताका एक ऐसा उदाहरण है जिसकी तुलना जगत्‌में कहीं नहीं है। जिन सीताजीके लिये आप वन-वनमें विलाप करते भटके, जिनके लिये रावणसे घोर युद्ध किया—केवल प्रजारञ्जनके लिये हृदयको अत्यन्त कठोर बनाकर उन्हीं सीता-जीको निर्दोष समझते हुए भी आपने वनमें भेज दिया। धन्य है!

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंकी गाथा गाकर कौन पार पा सकता है। वे परम दयालु, परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम संयमी, परम कल्याणाश्रय, महान् वीर्यवान्, महान् बुद्धिमान्, शस्त्रविद्या-विशारद, सौन्दर्य-माधुर्यके निधि, कान्तिमान्, धृतिमान्, जितेन्द्रिय, अत्यन्त गम्भीर, परम विनयी, महान् धीर, अनुपम प्रियदर्शन, मधुरभाषी, महान् क्षमाशील, परम उदार, परम ब्रह्मण्य, संगीत-कलानिपुण, आदर्श सत्यवादी और सत्यव्रती, कुसुमसे भी कोमल, किंतु कर्तव्यपालनमें वज्रसे भी कठोर, परम यशस्वी, महान् वाग्मी, सर्वशास्त्रतत्त्वज्ञ, महान् प्रतिभाशाली, आदर्श पुत्र, आदर्श शिष्य, आदर्श पति, आदर्श भाई, आदर्श स्वामी, आदर्श राजा, आदर्श मित्र, आदर्श शूरवीर, आदर्श आश्रयदाता, आदर्श गुणवान्, आदर्श सदा-चारी, आदर्श धर्मव्रती, आदर्श त्यागी, नीतिपरायण, साधुजनप्रिय, परम प्रतापवान्, धर्मरक्षक, सर्वप्रिय, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्ति-मान् हैं।

सत्यवादिताके सम्बन्धमें तो उन्होंने स्वयं घोषणा की है—'रामो द्विर्नाभिभाषते' (वा० रा० अयोध्या० १८।३०) राम दो बार नहीं बोलते। अर्थात् एक बार जो कह दिया सो निश्चित हो गया।

धर्मपरायणताका क्रियात्मक उदाहरण तो उनका समस्त

जीवन ही है। साक्षात् भगवान् होनेपर भी आप धर्मकी मर्यादा-रक्षाके लिये नियमितरूपसे संध्या-अग्निहोत्रादि कर्म स्वयं करते हैं। वर्णाश्रमके अनुसार ब्राह्मणों, ऋषियों तथा गुरुजनोंका पूजन करते हैं, यज्ञ-यागादि करते हैं, मन्दिरोंकी स्थापना और मूर्तिपूजन करते हैं, श्राद्ध-तर्पणादि क्रिया सावधानीसे करते हैं।

चित्रकूटमें भरतजीके साथ गये हुए ऋषियोंमें जाबालि नामक एक ऋषि थे। वे महाराज दशरथजीकी सभाके एक प्रधान सदस्य थे। श्रीरामजीको अयोध्या लौटनेकी बात समझाते हुए उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं जो नास्तिकवादका समर्थन करनेवाली थीं। उनकी बातोंको सुनकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् लीलासे उनपर रुष्ट हो गये और उन्होंने मुनिको फटकारकर बहुत कुछ कहा—

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद्विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्॥

(वा० रा० अयोध्या० १०९। ३३)

'इस प्रकारकी बुद्धिसे आचरण करनेवाले तथा परम नास्तिक एवं धर्ममार्गसे हटे हुए आपको जो मेरे पिताजीने अपना याजक बनाया मैं उनके इस कार्यकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि आप बुरे मार्गमें स्थित बुद्धिवाले हैं।'

इन वचनोंसे पता लगता है कि महाराज श्रीरामचन्द्रजी नास्तिकवादको कितना बुरा समझते थे। नास्तिकवादकी निन्दामें

अपने उन पिताके कार्यकी भी निन्दा की, जिनके वचनोंकी रक्षाके लिये आज वनमें बस रहे हैं।

अन्तमें जाबालि मुनिके यह कहनेपर कि मैं नास्तिक नहीं हूँ, मैंने तो केवल आपको लौटानेके लिये तर्कके तौरपर ये बातें कही थीं। यह मेरा मत नहीं है और गुरु वसिष्ठजीके द्वारा जाबालिजीके इस कथनका समर्थन होनेपर भगवान् श्रीरघुनाथजी शान्त हुए।

भगवान् श्रीरामजीके सभी भाव विलक्षण हैं। आपका जन्म, बालभाव, कुमारभाव, मिथिलाका मधुरभाव, वनका तापसभाव, लंकाका वीरभाव, राजभाव, प्रेमभाव—सभी आदर्श और महान् अनुकरणीय हैं। आपके आदर्श जीवनसे जो लाभ नहीं उठाता, वह बड़ा ही मन्दभागी है।

श्रीरामचन्द्रजीके सभी गुण और आचरण आदर्श हैं। उनमें एक भी ऐसी बात नहीं है, जो परम आदर्श और अनुकरण करने योग्य न हो। कहीं कोई बात असंगत या अपने मनके प्रतिकूल प्रतीत होती है तो उसमें प्रधान कारण है श्रद्धाकी कमी। श्रद्धा कम होनेसे भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावका ज्ञान नहीं होता, इसी कारण उनकी लीलामें भ्रमवश मनमें शंका हो जाती है। कोई लीला न समझमें आवे तो उसके अतिरिक्त अन्यान्य आचरणोंका अनुकरण और उनके उपदेशोंका पालन अवश्य ही करना चाहिये। भगवान्‌ने अपने भाइयोंको तथा प्रजाको जो परम सुन्दर उपदेश दिये हैं, उनका अक्षरशः पालन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और प्रभुकी आज्ञा या उनके आचरणके अनुसार

यत्किञ्चित् भी चेष्टा होने लगे तो इसमें प्रभुकी ही कृपा समझनी चाहिये तथा भगवान्‌की इस कृपाका बारंबार लक्ष्य और अनुभव करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये । महाराजकी प्रत्येक लीलामें प्रेम, दया, क्षमा, सत्य आदि गुण भरे हैं; उनका अपरिमित प्रभाव सब लीलाओंमें व्याप्त है—यह निश्चय करके प्रत्येक क्रियामें उनके आदर्श व्यवहार, उनके महान् गुण, उनके प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका चिन्तन करते हुए तथा उनकी अमृतमयी रूप-लावण्ययुक्त मनोमोहिनी मूर्तिका प्रत्यक्षवत् ध्यान रखते हुए सदा प्रसन्न होना चाहिये । वे पुरुष धन्य हैं जो साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी महाराजके नाम, रूप, गुण, चरित्र, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझ-समझकर प्रेम और आनन्दमें तन्मय हुए संसारमें उनका अनुकरण करते हुए विचरते हैं । वह पृथ्वी धन्य है जहाँ ऐसे पुरुष निवास करते हैं । ऐसे साक्षात् कल्याणमय पुरुषोंका जो दर्शन, भाषण, स्पर्श, स्मरण और सङ्ग लाभ करते हैं वे भी पवित्र हो जाते हैं । ऐसे पुरुषोंके जहाँ चरण टिकते हैं वह देश तीर्थ बन जाता है और वहाँ प्रेम, आनन्द और शान्तिका स्रोत बहने लगता है । वह कुल धन्य, जगत्पूज्य और परम पवित्र है जहाँ ऐसे भगवत्परायण पुरुषरत्न उत्पन्न होते हैं । भगवान् शिवजी महाराज कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत ॥

(रा० च० मा० उत्तर० १२७)

श्रद्धा-विश्वास, मिलनकी तीव्र इच्छा और निर्भरता

आस्तिकभाव या भगवान्‌की सत्तामें विश्वास

भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होनेपर भी भगवान्‌की सत्ता (होनेपन) में जो विश्वास है, उससे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, किंतु यह विश्वास पूर्णतया होना चाहिये। मनुष्यके मनमें भगवान्‌के अस्तित्वका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों वह भगवान्‌के समीप पहुँचता जाता है। किसीको भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार किसी भी स्वरूपका वास्तविक अनुभव नहीं है; किंतु यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं; वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, परम प्रेमी और परम दयालु हैं, वे पतित-पावन और अन्तर्यामी हैं; हम जो कुछ कर रहे हैं, उसे भगवान् देख रहे हैं, जो कुछ बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं तथा जो कुछ हमारे हृदयमें है, उसे भी वे जान रहे हैं। इस प्रकार विश्वास हो जानेपर उस साधकके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, हिंसा, व्यभिचार आदि भगवान्‌के विपरीत आचरण नहीं हो सकते। इस विश्वासकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर विरुद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, उनके द्वारा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि जो कुछ होता है, वह भगवान्‌के अनुकूल और उनकी प्रसन्नताके लिये ही

होता है। उसके हृदयमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि भाव भगवान्‌के अनुकूल और उत्तम-से-उत्तम होते हैं। भगवान्‌के अस्तित्वमें जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम 'श्रद्धा' है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेसे जब साधककी भगवान्‌में परम श्रद्धा हो जाती है, तब उसके हृदयमें प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं। कभी-कभी तो शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। कभी-कभी विरहकी व्याकुलतामें वह छटपटाने लग जाता है। उसके हृदयमें यह भाव आता है कि जब भगवान् हैं तो हम उनसे वञ्चित क्यों? भगवान्‌की ओरसे तो कोई कमी है ही नहीं। जो कुछ विलम्ब होता है, वह हमारे साधनकी कमीके कारण ही होता है और उस साधनकी कमी-में हेतु है विश्वासकी कमी तथा विश्वासकी कमीमें हेतु है अज्ञता यानी मूर्खता।

अतएव हमको यह विश्वास बढ़ाना चाहिये कि भगवान् निश्चय हैं, वे अबतक बहुतोंको मिल चुके हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं मनुष्य-मात्रका उनकी प्राप्तिमें अधिकार है। अपात्र होनेपर भी दयामय भगवान्‌ने मुझको मनुष्य-शरीर देकर अपनी प्राप्तिका अधिकार दिया है। ऐसे अधिकारको पाकर मैं भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित रहूँ तो यह मेरी मूर्खता है तथा यह मेरे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है। बार-बार इस प्रकार सोचने-समझनेपर भगवान्‌के होनेपनमें उत्तरोत्तर भक्तिपूर्वक विश्वास बढ़ता चला जाता है, जिससे उसके मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, तदनन्तर आकाङ्क्षामें तीव्रता आते-आते उसको भगवान्‌का न मिलना

असह्य हो जाता है, अतएव वह फिर भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रहता। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर भगवान् उससे मिले बिना रह नहीं सकते। जो भगवान्‌से मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाता है, उसके लिये एक क्षणका भी विलम्ब भगवान् कैसे कर सकते हैं। अतएव भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ बढ़ाना चाहिये। इस भक्तिपूर्वक विश्वासकी पूर्णता ही परम श्रद्धा है। परम श्रद्धाके उदय होनेके साथ ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, फिर एक क्षणका भी विलम्ब नहीं हो सकता। हमारे श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका एकमात्र कारण है।

शास्त्र और महात्माओंपर श्रद्धा

शास्त्र और महात्माओंपर विश्वास होनेपर भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो सकती है। शास्त्र कहते हैं कि 'भगवान् हैं' और महात्मा भी कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' शास्त्रके वचनोंसे भी महात्माके वचन विशेष बलवान् हैं; क्योंकि महात्मा तो परमात्माका साक्षात्कार करके ही कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' महात्मा जो कहते हैं, सत्य ही कहते हैं। जो झूठ बोलते हैं, वे तो महात्मा ही नहीं। यदि महात्मा यह कहते हैं कि 'भगवान् हैं' और इस विषयमें शास्त्र प्रमाण है, तो इस प्रकारका महात्माका वचन तो शास्त्रके समान ही है, किंतु शास्त्रका प्रमाण न देकर यदि महापुरुष कहें कि 'भगवान् निश्चय हैं' तो यह वचन और भी बलवान् है, शास्त्रके प्रमाणसे भी बढ़कर है; क्योंकि बिना प्रत्यक्ष किये महात्मा ऐसा नहीं कहते।

अतएव महात्माके मनके अनुसार चलनेवालेका कल्याण हो

जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, उनके संकेत (इशारे) और आदेशके अनुसार आचरण करनेपर भी निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जब कि शास्त्रके अनुकूल चलनेसे भी कल्याण हो जाता है तो फिर महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे या उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु महात्माके वचनोंमें परम श्रद्धा होनी चाहिये। मान लीजिये, किसी महात्माने किसी श्रद्धा दिखानेवाले पुरुषसे कहा कि—'अमुक संस्थामें एक बोरा गेहूँ और दस कम्बल भिजवा दो।' इसपर उस श्रद्धालुने अपनी बुद्धि लगाकर उत्तर दिया कि 'इस समय न तो कम्बलका मौसम है, न उनकी माँग है और न आवश्यकता ही है।' तब महात्मा बोले—'अच्छी बात है, गेहूँ ही भिजवा दो।' श्रद्धालुने कहा—'अभी यहाँ गेहूँके दाम महँगे हैं, पाँच दिनों बाद दाम कम हो जायँगे; दूसरे प्रदेशोंमें बाजार गिर गया है और यहाँ भी गिरनेवाला है; अतएव भाव गिरनेपर भेज देंगे।' इसपर महात्माने कहा—'बहुत अच्छा। तुम ठीक समझो, वैसे कर सकते हो।' इसका नाम 'श्रद्धा' नहीं है; क्योंकि यहाँ वह श्रद्धालु महात्माके आदेशका श्रद्धापूर्वक ज्यों-का-त्यों पालन न करके अपनी बुद्धिसे काम लेता है और महात्मा अपनी स्वाभाविक उदारतासे उसमें सहमत हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें श्रद्धालुकी जो श्रद्धा होती है, उस श्रद्धाका कोई मूल्य नहीं तथा महात्माकी आज्ञा यदि श्रद्धालुके अनुकूल पड़ती है और श्रद्धालु उसे मान लेता है तो यह भी श्रद्धा नहीं है। एवं महात्माकी आज्ञा श्रद्धालुके मनके विपरीत प्रतीत हो, परंतु वह मन मारकर उसे मान ले तो यह भी श्रद्धा नहीं है। मनके विपरीत

होनेपर भी महात्माकी आज्ञाको श्रद्धालु प्रसन्नतासे पालन करता है, जैसे राजा युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयोंने द्रौपदीके साथ विवाह करनेके विषयमें माता कुन्तीके वचन लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध होनेपर भी प्रसन्नता और आग्रहके साथ उनका अनुसरण किया था—इसका नाम 'श्रद्धा' है।

वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है कि वनगमनके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज माता कौशल्याके पास गये और उन्होंने पिताकी आज्ञासे वनमें जानेकी बात कही। तब माता कौशल्याने कहा—'पिताकी आज्ञा वनमें जानेकी है; किंतु मेरी आज्ञा है, तुम वनमें मत जाओ।' यह सुनकर भगवान् रामने कहा—'पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। अतः मैं वन जाना चाहता हूँ। इसके लिये कृपया आप मुझे अनुमति दें।' इसपर कौशल्या बोली—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ५५। १)

भगवान् रामकी दशरथजीमें जो यह श्रद्धा है, यह 'परम श्रद्धा' है।

आयोदधौम्य मुनिने एक दिन अपने शिष्य आरुणिसे कहा—'तुम खेतमें जाकर नीचे बहे जानेवाले जलको रोक दो।' उसने वहाँ जाकर उस जलको मिट्टीसे रोकनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उसे सफलता नहीं हुई। वह मिट्टीकी मेंड बनाता और जलका प्रबल प्रवाह उसे बहा देता। जब प्रवाह रुका ही नहीं, तब आरुणि स्वयं वहाँ

लेट गया, जिससे जलका बहना बंद हो गया । तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर गुरुजीने शिष्योंसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया ?' उन्होंने कहा—'आपने ही तो खेतका पानी रोकनेके लिये उसे भेजा है ।' यह सुनकर आयोदधौम्य मुनि बोले—'अभीतक आरुणि लौटकर नहीं आया, अतः चलो, हम सब भी वहीं चलें ।' तदनन्तर वे उसी समय शिष्योंको साथ लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ आरुणि स्वयं मेंड बनकर जलको रोके हुए था । मुनिने कहा—'वत्स आरुणि ! तुम कहाँ हो, यहाँ आओ ।' यह सुनकर आरुणि उठकर गुरुके पास आया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'आपकी आज्ञासे मैंने जल रोकनेका प्रयत्न किया, किंतु जब जल न रुका तो मैंने स्वयं ही लेटकर जलको रोक रक्खा था । आपके वचन सुनकर अब मैं वहाँसे उठकर आ गया हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ; अब आपकी क्या आज्ञा है ? जलको रोके रक्खूँ या दूसरा कोई कार्य करूँ ?' गुरुजीने कहा—'तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, अतः तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होओगे ।' फिर आचार्यने कृपापूर्वक कहा—'तुमने मेरे वचनोंका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणको प्राप्त होओगे और सम्पूर्ण वेद तथा समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारे लिये स्वतः ही प्रकाशित हो जायँगे ।' गुरुजीका वरदान पाकर आरुणि अपने देशको लौट गये । श्रद्धाके प्रभावसे उन्हें बिना ही पढ़े सारे वेदोंका ज्ञान हो गया । (महा० आदि० ३ । २१—३३)

श्रीहारिद्रुमत गौतम नामके एक ऋषि थे । उनके पास जबाला-का पुत्र सत्यकाम गया और बोला—'मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक आपकी

सेवामें रहना चाहता हूँ ।' गौतमने पूछा—'तुम्हारा गोत्र क्या है ?' उसने उत्तर दिया—'मैंने अपनी माँसे पूछा था तो माँने कहा कि 'मैं तुम्हारे पिताकी सेवा किया करती थी, गोत्रका मुझे ज्ञान नहीं है । तेरा नाम सत्यकाम है और मेरा नाम जबाला है ।' यह सुनकर गौतम बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम ब्राह्मण हो; क्योंकि तुम सत्य बोल रहे हो । आजसे तुम्हारी माँके नामसे तुम्हारा गोत्र होगा ।' तत्पश्चात् उसे शिष्य स्वीकार करके गौतमने कहा—'तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन कर दूँगा ।' फिर उन्होंने चार सौ गायें अलग करके कहा—'तुम इनके पीछे-पीछे जाओ ।' तब उन्हें ले जाते समय सत्यकाम बोला—'इनकी एक हजार संख्या हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा ।' इस प्रकार कहकर वह वनमें चला गया और वहीं वर्षोंतक रहा । जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं, तब एक बैलने कहा—'अब हमारी संख्या एक हजार पूरी हो गयी, तुम हमें गुरुके पास ले चलो ।' वह गायोंको लेकर गुरुके समीप पहुँचनेके लिये चला । वहीं रास्तेमें उसको साँडके द्वारा ब्रह्मके प्रथम पादका, अग्निके द्वारा द्वितीय पादका, हंसके द्वारा तृतीय पादका और मद्गुके द्वारा चतुर्थ पादका उपदेश प्राप्त हो गया । इस प्रकार अनायास ब्रह्मका उपदेश प्राप्तकर वह ब्रह्मज्ञानी हो गया । जब वह गायोंको लेकर गुरुके पास पहुँचा, तब उसके चेहरेकी चमक और शान्तिको देखकर गौतमने कहा—'सत्यकाम ! तुम्हारा चेहरा देखनेसे प्रतीत होता है, मानो तुम्हें ब्रह्मका ज्ञान हो गया है ।' सत्यकाम बोला—'ठीक है । किंतु फिर भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ।' तब गुरुने

भी उसे उपदेश दिया। (छान्दोग्य० ४ । ४–९) यह है उच्चकोटिकी श्रद्धा ।

अपने मनके विपरीत भी गुरुके आदेशको प्रसन्नताके साथ काममें लाया जाता है, यह श्रद्धा है और अपने मनके अत्यन्त विपरीत आदेश सुनकर भी उसके अनुसार करनेमें अतिशय प्रसन्नता हो अर्थात् इधर गुरुकी आज्ञाकी विपरीतताकी भी कोई सीमा नहीं और उधर उसका पालन करनेमें प्रसन्नताकी भी कोई सीमा नहीं । तात्पर्य यह कि विपरीत-से-विपरीत आज्ञाके पालनके समय प्रसन्नता, शान्ति आदि उत्तरोत्तर इतनी अधिक बढ़ती जाती है कि हृदयमें हर्ष, प्रफुल्लता और शरीरमें रोमाञ्च, अश्रु-पात आदिकी सीमा नहीं रहती, वरिक वे अनवरत बढ़ते ही जाते हैं । यह है परम श्रद्धा ।

उपर्युक्त भावसे भावित हो प्रभुके मनके, संकेतके या आज्ञाके अनुसार करनेवालेका शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाता है, इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं ।

इसी प्रकार शास्त्रकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी ऐसा भाव हो तो उसे शास्त्रमें परम श्रद्धा समझना चाहिये ।

ईश्वरके मिलनेकी तीव्र इच्छा

एक भाई दुर्गुण और दुराचारसे युक्त है, किंतु ईश्वरके मिलनेकी महिमाको सुनकर उसके मनमें ईश्वरसे मिलनेकी तीव्र इच्छा जाग उठी; ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर ध्यान न देकर उसे अविलम्ब दर्शन दे सकते हैं । कोई दो-तीन सालका छोटा बालक मल-मूत्रसे भरा है और माताके लिये अत्यन्त

व्याकुल है। स्नेहमयी माता अपने उस हृदयके टुकड़ेको जलसे शुद्ध करके हृदयसे लगाना चाहती है, किंतु वालक इतना आतुर है कि विलम्ब सहन नहीं कर सकता। उसे इस बातका ज्ञान ही नहीं है कि मल-मूत्रसे लथपथ होनेके कारण मुझको माँ हृदयसे लगानेमें विलम्ब कर रही है, वह तो मातासे मिलनेके लिये अतिशय करुणाभावसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोता है। ऐसी परिस्थितिमें माता उसकी अतिशय व्याकुलताको देखकर स्नेहके कारण उसे हृदयसे लगा लेती है। पर भगवान्‌का स्नेह तो अनन्त माताओंसे वढ़कर है, फिर वे विलम्ब कैसे कर सकते हैं। स्नेहके कारण जव भक्तके हृदयमें प्रभुसे मिलनेकी लालसा अत्यन्त वढ़ जाती है, तव भगवान् उसके दुर्गुण-दुराचाररूप दोषोंकी ओर देखकर भी विलम्ब नहीं करते।

माता तो बच्चेके मल-मूत्रकी सफाई करनेमें कुछ विलम्ब भी कर सकती है; किंतु भगवान्‌की दृष्टिमें तो उस साधकके दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं जाते, तव वे कैसे विलम्ब कर सकते हैं? पर साधकके हृदयमें मिलनकी इच्छा अत्यन्त तीव्र होनी चाहिये, फिर वह कैसा भी दुराचारी क्यों न हो। भगवान् तो केवल एक तीव्र प्रेम और मिलनकी तीव्र लालसाको ही देखते हैं और कुछ नहीं। तथा भगवान्‌को प्राप्त कर लेनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश हो जाता है।

अतएव हमलोगोंके हृदयमें भगवान्‌से मिलनेकी उत्कट इच्छा और परम प्रेम हो, इसके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्‌पर निर्भरता

बिल्लीका बच्चा जैसे अपनी माँपर निर्भर करता है, हमें उससे

भी बढ़कर भगवान्पर निर्भर होना चाहिये। दो सालका छोटा बालक थोड़ी देरके लिये भी माँको छोड़ना नहीं चाहता, वह माँके ही भरोसे रहता है। माँ चाहे मारे चाहे पाले। वह माँके सिवा दूसरेको नहीं जानता। वह तो एक माँपर ही पूर्णतया निर्भर है। इसी प्रकार कल्याणकामीको अपने कल्याणके लिये भगवान्-पर निर्भर होना चाहिये। भगवान् तारें चाहे मारें। उसमें कुछ भी विचार न करे—केवल भगवान्के ही भरोसे रहे। भगवान्के विधानके अनुसार सुख-दुःख आदि जो कुछ प्राप्त होते हैं, उनको भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये और अपनेद्वारा होनेवाले कार्योंमें ऐसा समझना चाहिये कि हमारे सारे कर्म भगवान् जैसे करवाते हैं, वैसे ही होते हैं; किंतु इस विषयमें अकर्मण्यता (कर्म करनेमें जी चुराना) और सकाम कर्म तथा शास्त्रविपरीत कर्म यदि होते हों तो यह समझना चाहिये कि हमारे कर्मोंमें भगवान्का हाथ नहीं है, कामका हाथ है; क्योंकि जहाँ भगवान्का हाथ है, वहाँ कर्तव्यकर्मकी अवहेलना नहीं हो सकती और कामनाका अभाव होनेके कारण सकाम कर्म भी नहीं होते; तो फिर पापकर्म तो हो ही कैसे सकते हैं। यदि हों तो समझना चाहिये कि वहाँ कामका हाथ है।

गीतामें अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(३।३६)

'हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी

बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो ।'

'भगवान्‌पर निर्भरता'का यह अर्थ नहीं कि वह बालककी भाँति सर्वथा कर्मोंका त्याग कर देता है । बालकको ज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये कर्तव्य लागू नहीं पड़ता; किंतु जिसको ज्ञान है, वह सर्वथा कर्म छोड़कर बैठे तो वह भगवान्‌पर निर्भरता नहीं, वरं अकर्मण्यता है, प्रमाद है । जो भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, वह चिन्ता, शोक, भय, ईर्ष्या, उद्वेग आदि दुर्गुणोंसे रहित हो जाता है । उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि गुण स्वयमेव आ जाते हैं ।

अतएव भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌के शरण होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करते हुए उसपर सर्वथा निर्भर रहना चाहिये । भगवान् जो कुछ कर रहे हैं, उसको उनकी लीला समझकर देखता रहे और उसीमें आनन्द माने ।

ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है

वास्तवमें नामकी महिमा वही पुरुष जान सकता है, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवन्नाममें संलग्न रहता है। नामकी प्रिय और मधुर स्मृतिसे जिसके क्षण-क्षणमें रोमाञ्च और अश्रुपात होते हैं, जो जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलताके समान क्षणभरके नाम-वियोगसे भी विकल हो उठता है, जो महापुरुष निमेषमात्रके लिये भी भगवान्‌के नामको नहीं छोड़ सकता और जो निष्काम भावसे निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करते-करते उसमें तल्लीन हो चुका है। ऐसा ही महात्मा पुरुष इस विषयके पूर्णतया वर्णन करनेका अधिकारी है और उसीके लेखसे संसारमें विशेष लाभ पहुँच सकता है।

यद्यपि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, उस अपरिमित गुणनिधान भगवान्‌के नामकी अवर्णनीय महिमाका वर्णन करनेका मुझमें सामर्थ्य नहीं है तथापि अपने कतिपय मित्रोंके अनुरोधसे मैंने कुछ निवेदन करनेका साहस किया है। अतएव इस लेखमें जो कुछ त्रुटियाँ रही हों उनके लिये आपलोग क्षमा करें।

महिमाका दिग्दर्शन

भगवन्नामकी अपार महिमा है, सभी युगोंमें इसकी महिमाका विस्तार है। शास्त्रों और साधु-महात्माओंने सभी युगोंके लिये मुक्तकण्ठसे नाम-महिमाका गान किया है, परंतु कलियुगके लिये तो इसके समान मुक्तिका कोई दूसरा उपाय ही नहीं बतलाया गया। यथा—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारदपु० १।४१।११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।'

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५२)

'सत्ययुगमें भगवान् विष्णुके ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंसे, द्वापरमें भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल हरिके नाम-संकीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।'

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

(रा० च० मा० उत्तर० १०३क)

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरेहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष हद तिन्हहुँ किए मन मीन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥

(रा० च० मा० बाल० २१, २२, २४)

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(रा० च० मा० उत्तर० ७८ क, १२२ क)

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(रा० च० मा० बाल० २३।१; २५।२, ३, ४; २६।१)

नाम-महिमामें प्रमाणोंका पार नहीं है। हमारे शास्त्र इससे भरे पड़े हैं, परंतु अधिक विस्तारभयसे यहाँ इतने ही लिखे जाते हैं। संसारमें जितने मत-मतान्तर हैं प्रायः सभी ईश्वरके नामकी महिमाको स्वीकार करते और गाते हैं। अवश्य ही रुचि और भावके अनुसार नामोंमें भिन्नता रहती है, परंतु परमात्माका नाम कोई-सा भी क्यों न हो; सभी एक-सा लाभ पहुँचानेवाले हैं। अतएव जिसको जो नाम रुचिकर प्रतीत हो वह उसीके जपका ध्यानसहित अभ्यास करे।

मेरा अनुभव

कुछ मित्रोंने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है, परंतु जब कि मैंने भगवन्नामका विशेष संख्यामें जप ही नहीं किया तब मैं अपना अनुभव क्या लिखूँ ? भगवत्कृपासे जो कुछ यत्किंचित् नामस्मरण मुझसे हो सका है, उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है।

नामका अभ्यास मैं लड़कपनसे ही करने लगा था, जिससे शनैः-शनैः मेरे मनकी विषयवासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी सहायता मिली। काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्तःकरणमें शान्तिका विकास हुआ। कभी-कभी नेत्र बंद करनेसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा। सांसारिक स्फुरणा बहुत कम हो गयी। भोगोंमें वैराग्य हो गया। उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था।

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमें श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उनसे बातचीत भी हुई। श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे बहुत कुछ कहा, पर मेरी इच्छा माँगनेकी नहीं हुई, अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो।' यह सब नामका ही फल था।

इसके बाद नाम-जपसे मुझे और भी अधिकतर लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ। हाँ, इतना अवश्य कह सकता

हूँ कि नामजपसे मुझे जितना लाभ हुआ है, उतना श्रीमद्भगवद्गीता-के अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ ।

जब-जब मुझे साधनसे च्युत करनेवाले भारी विघ्न प्राप्त हुआ करते थे, तब-तब मैं प्रेमपूर्वक भावनासहित नामजप करता था और उसीके प्रभावसे मैं उन विघ्नोंसे छुटकारा पाता था । अतएव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नोंको नष्ट करने और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूपचिन्तन-सहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है । जब कि साधारण संख्यामें भगवन्नामका जप करनेसे ही मुझे इतनी परम शान्ति, इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्कामभावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते हैं, उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है ?

नामजप किसलिये करना चाहिये ?

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

(कठ० १ । २ । १६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकार-रूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है ।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार कल्पवृक्षरूप भगवद्भजनके

प्रतापसे जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, उसे वही मिल सकती है। परंतु आत्माका कल्याण चाहनेवाले सच्चे प्रेमी भक्तोंको तो निष्काम भावसे ही भजन करना चाहिये। शास्त्रोंमें निष्काम प्रेमी भक्तकी ही अधिक प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने भी कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७।१६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी—ऐसे चार प्रकारके भक्त-जन मुझको भजते हैं। उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इस प्रकार निष्काम प्रेमपूर्वक होनेवाले भगवद्भजनके प्रभावको जो मनुष्य जानता है, वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलता और भगवान् भी उसको नहीं भूलते। भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत

देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है; क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

भला, सच्चा प्रेमी क्या अपने प्रेमास्पदको छोड़कर कभी दूसरेको मनमें स्थान दे सकता है? जो भाग्यवान् पुरुष परम सुखमय परमात्माके प्रभावको जानकर उसे ही अपना एकमात्र प्रेमास्पद बना लेते हैं, वे तो अहर्निश उसीके प्रिय नामकी स्मृतिमें तल्लीन रहते हैं, वे दूसरी वस्तु न कभी चाहते हैं और न उन्हें सुहाती ही है।

अतएव जहाँतक ऐसी अवस्था न हो वहाँतक ऐसा अभ्यास करना चाहिये। नामोच्चारण करते समय मन प्रेममें इतना मग्न हो जाना चाहिये कि उसे अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे। भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेम-भक्ति और भगवत्-साक्षात्कारिताके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।

यदि कोई शङ्का करे कि बहुत लोग भगवन्नामका जप किया करते हैं, परंतु उनके कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता, तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि उन लोगोंने या तो विधिसहित जपका अभ्यास ही नहीं किया होगा या अपने जप-रूप परमधनके बदलेमें तुच्छ सांसारिक भोगोंको खरीद लिया होगा, नहीं तो उन्हें अवश्य ही विशेष लाभ होता, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इसलिये नामजप किसी प्रकारकी भी छोटी-बड़ी कामनाके लिये न करके केवल भगवान्‌के विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये।

नापजप कैसे करना चाहिये ?

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

(योग० १ । २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है ।'

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

(योग० १ । २८)

'उस परमात्माके नामजप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना ।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

(योग० १ । २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि नामजप नामीके स्वरूपचिन्तन-सहित करना चाहिये। स्वरूपचिन्तनयुक्त नापजपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्प्राप्ति होती है ।

यद्यपि नामी नामके ही अधीन है । श्रीगोस्वामीजी महाराजने कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना।
रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें।
आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
(रा० च० मा० बाल० २०। २-३)

इसलिये स्वरूपचिन्तनकी चेष्टा किये बिना भी केवल नाम-जपके प्रतापसे ही साधकको समयपर भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार अपने-आप ही हो सकता है, परंतु उसमें विलम्ब हो जाता है। भगवान्‌के मनमोहन स्वरूपका चिन्तन करते हुए जपका अभ्यास करनेसे बहुत ही शीघ्र लाभ होता है, क्योंकि निरन्तर चिन्तन होनेसे भगवान्‌की स्मृतिमें अन्तर नहीं पड़ता।

इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

अतएव 'हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।' भगवान्‌की इस आज्ञाके अनुसार उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और प्रत्येक सांसारिक कार्य करते समय साधकको नाम-जपके साथ-ही-साथ मन-बुद्धिसे भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और निश्चय करते रहना चाहिये, जिससे क्षणभरके लिये भी उसकी स्मृतिका वियोग न हो।

इसपर यदि कोई पूछे कि किस नामका जप अधिक लाभदायक है और नामके साथ भगवान्‌के कैसे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ? तो इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि परमात्माके अनेक नाम हैं, उनमेंसे जिस साधककी जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो, उसे उसी नामके जपसे विशेष लाभ होता है । अतएव साधकको अपनी रुचिके अनुकूल ही भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये । एक बात अवश्य है कि जिस नामका जप किया जाय, स्वरूपका चिन्तन भी उसीके अनुसार होना चाहिये । उदाहरणार्थ—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मन्त्रका जप करनेवालेको सर्वव्यापी वासुदेवका ध्यान करना चाहिये । 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रका जप करनेवालेको चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करना चाहिये । 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका जप करनेवालेको त्रिनेत्र भगवान् शंकरका ध्यान करना उचित है । केवल ॐकारका जप करनेवालेको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्ध ब्रह्मका चिन्तन करना उचित है । श्रीरामनामका जप करनेवालेको श्रीदशरथनन्दन भगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपका चिन्तन करना लाभप्रद है ।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(कलिसं० १)

इस मन्त्रका जप करनेवालेके द्वारा श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपोंका अपनी इच्छा और रुचिके

अनुसार ध्यान किया जा सकता है; क्योंकि यह सब नाम सभी रूपोंके वाचक हो सकते हैं।

इन उदाहरणोंसे यही समझना चाहिये कि साधकको गुरुसे जिस नाम-रूपका उपदेश मिला हो, जिस नाम और जिस रूपमें श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपनी आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उसी नाम-रूपके जप-ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

परंतु नामजपके साथ ध्यान जरूर होना चाहिये। वास्तवमें नामके साथ नामीकी स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तुके नामका उच्चारण करता है, उस-उस वस्तुके स्वरूपकी स्मृति उसे एक बार अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है उसीके अनुसार भला-बुरा परिणाम भी अवश्य होता है। जैसे कोई मनुष्य कामके वशीभूत होकर जब किसी स्त्रीका स्मरण करता है तब उसकी स्मृतिके साथ ही उसके शरीरमें काम जाग्रत् होकर वीर्यपातादि दुर्घटनाको घटा देता है। इसी प्रकार वीररस और करुण-रसप्रधान वृत्तान्तोंकी स्मृतिसे तदनुसार ही मनुष्यकी वृत्तियाँ और उसके भाव बन जाते हैं। साधु पुरुषको याद करनेसे मनमें श्रेष्ठ भावोंकी जागृति होती है और दुराचारीकी स्मृतिसे बुरे भावोंका आविर्भाव होता है। जब लौकिक स्मरणका ऐसा परिणाम अनिवार्य है तब परमात्माके स्मरणसे परमात्माके भाव और गुणोंका अन्तःकरणमें आविर्भाव हो, इसमें तो संदेह ही क्या है!

अतएव साधकको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर निष्काम

भावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नामजपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

सत्सङ्गसे ही नामजपमें श्रद्धा होती है

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त भगवन्नाममें लोग क्यों नहीं प्रवृत्त होते? इसका उत्तर यह है कि भगवत्-भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है जिसपर भगवान्की पूर्ण दया होती है।

यद्यपि भगवान्की दया तो सदा ही सबपर समान भावसे है; परंतु जबतक उसकी अपार दयाको मनुष्य पहचान नहीं लेता तबतक उसे उस दयासे लाभ नहीं होता। जैसे किसीके घरमें गड़ा हुआ धन है; परंतु जबतक वह उसे जानता नहीं तबतक उसे कोई लाभ नहीं होता, परंतु वही जब किसी जानकार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान्की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यको भगवान्की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्य-निरन्तर अभ्याससे उसके समस्त संचित पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है।

नाममें पापनाशकी स्वाभाविक शक्ति है

यहाँपर यदि कोई शङ्का करे कि यदि भगवान् भजन करनेवालेके पापोंका नाश कर देते हैं या उसे माफी दे देते हैं तो क्या

उनमें विषमताका दोष नहीं आता? इसका उत्तर यह है कि जैसे अग्निमें जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति स्वाभाविक है, इसी प्रकार भगवन्नाममें भी पापोंके नष्ट करनेकी स्वाभाविक शक्ति है। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैसे शीतसे व्यथित अनेक पुरुषोंमेंसे जो पुरुष अग्निके समीप जाकर अग्निका सेवन करता है उसीके शीतका निवारण कर अग्नि उसकी उस व्यथाको मिटा देती है; परंतु जो अग्निके समीप नहीं जाते, उनकी व्यथा नहीं मिटती। इससे अग्निमें कोई विषमताका दोष नहीं आता; क्योंकि वह सभीको अपना ताप देकर उनकी व्यथा निवारण करनेको सर्वदा तैयार है। कोई समीप ही न जाय तो अग्नि क्या करे? इसी प्रकार जो पुरुष भगवान्‌का भजन करता है उसीके अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान् उसके दुःखोंका सर्वथा नाश करके उसका कल्याण कर देते हैं। इसलिये भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता।

नाम-भजनसे ही ज्ञान हो जाता है

(शङ्का) यह बात मान ली गयी कि भगवन्नामसे पापोंका नाश होता है, परंतु परमपदकी प्राप्ति उससे कैसे हो सकती है ? क्योंकि परमपदकी प्राप्ति तो केवल ज्ञानसे होती है ।

(उत्तर) यह ठीक है । परमपदकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है; परंतु श्रद्धा, प्रेम और विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे किये जानेवाले भजनके प्रभावसे भगवान् उसे अपना वह ज्ञान प्रदान करते हैं कि जिससे उसे भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वज्ञान हो जाता है और उससे उस साधकको परमपदकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है । भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(गीता १० । ९–११)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक

भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

अतएव निरन्तर प्रेमपूर्वक निष्काम नामजप और स्वरूप-चिन्तनसे स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको सत्वर ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नामजपके महत्त्वको नहीं समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते हैं, वे कहा करते हैं कि राम-राम करना और टायँ-टायँ करना एक समान ही है। साथ ही यह भी कहा करते हैं कि नामजपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है। इसी तरहकी और भी अनेक बातें कही जाती हैं।

ऐसे भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि बिना ही जाँच किये इस प्रकारसे नामजपकी निन्दा कर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करें, बल्कि कुछ समयतक नामजप करके देखें कि उससे क्या लाभ होता है। व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षा कर पाप-भाजन नहीं बनना चाहिये।

नामजपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नामजप या भजनको अच्छा तो समझते हैं; परंतु प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते। यह उनकी

बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार दुर्लभ परंतु क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमें आलस्य करते हैं, उन्हें क्या कहा जाय ? जीवनका सद्व्यय भजनमें ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कबीरजीने कहा है—

मरोगे मरि जाओगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे, छाड़ि बसन्ता गाम॥
आजकालकी पाँच दिन, जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास॥
आज कहे मैं काल भजूँ, काल कहे फिर काल।
आजकालके करत ही, औसर जासी चाल॥
काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब।
पलमें परलय होयगी, फेर भजेगा कब॥

अतएव आलस्य और प्रमादका परित्याग करके जिस-जिस प्रकारसे भी हो, उठते-बैठते-सोते और सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए सदा-सर्वदा भजन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

'मा' बच्चोंको भुलानेके लिये उनके सामने नाना प्रकारके खिलौने डाल देती है, कुछ खानेके पदार्थ उनके हाथमें दे देती है, जो बच्चे उन पदार्थोंमें रमकर 'मा' के लिये रोना छोड़ देते हैं, 'मा' भी उन्हें छोड़कर अपना दूसरा काम करने लगती है; परंतु जो बच्चा किसी भी भुलावेमें न भूलकर केवल 'मा-मा' पुकारा करता है, उसे 'मा' अवश्य ही अपनी गोदमें लेनेको बाध्य होती

है, ऐसे जिद्दी बच्चेके पास घरके सारे आवश्यक कामोंको छोड़कर भी माको तुरंत आना और उसे अपने हृदयसे लगाकर दुलारना पड़ता है; क्योंकि माता इस बातको जानती है कि यह बच्चा मेरे सिवा और किसी विषयमें भी नहीं भूलता है।

इसी प्रकार भगवान् भी भक्तकी परीक्षाके लिये उसके इच्छानुसार उसे अनेक प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर भुलाना चाहते हैं। जो उनमें भूल जाता है, वह तो इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होता है; परंतु जो भाग्यवान् भक्त संसारके समस्त पदार्थोंको तुच्छ, क्षणिक और नाशवान् समझकर उन्हें लात मार देता है और प्रेममें मग्न होकर सच्चे मनसे उस सच्चिदानन्दमयी मातासे मिलनेके लिये ही लगातार रोया करता है; ऐसे भक्तके लिये सम्पूर्ण कामोंको छोड़कर भगवान्‌को स्वयं तुरंत आना पड़ता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं—

केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार।
रात दिवसके कूकते, कभी तो सुनें पुकार॥
राम नाम रटते रहो, जबलग घटमें प्रान।
कबहुँ तो दीनदयालके, भनक परेगी कान॥

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके लड्डू समझते हुए उनसे मन हटाकर श्रीपरमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है, दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी हैं, भजनेवालेके ही

पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये ?

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है । संसारके बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने उपासकोंको बाह्य धनादि पदार्थ देकर संतुष्ट करते हैं, परंतु भगवान् ऐसा नहीं करते, उनका तो यह नियम है कि उनको जो जिस भावसे भजता है, उसको वे भी उसी भावसे भजते हैं ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(गीता ४ । ११)

परमात्मा छोटे-बड़ेका कोई खयाल नहीं करते । एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति परमात्माको जिस भावसे भजता है, उनके साथ जैसा बर्ताव करता है, वे भी उसको वैसे ही भजते और वैसा ही बर्ताव करते हैं । यदि कोई उनके लिये रोकर व्याकुल होता है तो वे भी उससे मिलनेके लिये उसी प्रकार अकुला उठते हैं । यह उनकी कितनी दयाकी बात है ।

अतएव इस अनित्य, क्षणभङ्गुर, नाशवान् संसारके समस्त मिथ्या भोगोंको छोड़कर उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी शुद्ध परम दयालु सच्चे प्रेमी परमात्माके पावन नामका निष्काम प्रेमभावसे ध्यानसहित सदा-सर्वदा जप करते रहना चाहिये ।

संसारके समस्त दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप ही सर्वोपरि युक्तियुक्त साधन है ।



सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण

'सत्' जो भगवान् हैं, उनके प्रति प्रेम और उनका मिलन ही वास्तविक एवं मुख्य सत्सङ्ग है। भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माओंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। भगवत्प्रेमी उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। चौथी श्रेणीमें सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग है।

सत्स्वरूप भगवान्में प्रेम होना और उनका मिलना तो सब साधनोंका फल है तथा जो भगवान्को प्राप्त हो चुके हैं और जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम है, ऐसे भगवत्प्राप्त भक्तोंका मिलन या सङ्ग भगवान्की कृपासे ही मिलता है। वह पुरुष भगवान्की कृपाका अधिकारी होता है, जो अपनेपर भगवान्की अतिशय कृपा मानता है। वह फिर उस कृपाको तत्त्वसे जानकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। २९)। जिसका भगवान्में और उनके भक्तोंमें श्रद्धा-विश्वास और प्रेम होता है, एवं जिसके अन्तः-करणमें पूर्वके श्रद्धा-भक्तिविषयक संस्कार संचित हैं, वह भी भगवान्-की कृपाका अधिकारी होता है।

श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डमें भक्त विभीषणने हनुमान्जीसे कहा—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता । बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ॥
(सुन्दर० ६ । २)

'हे हनुमान् ! अब मुझे विश्वास हो गया कि श्रीरामजीकी मुझपर कृपा है; क्योंकि हरिकी कृपाके बिना संत नहीं मिलते ।'

श्रीशिवजी भी पार्वतीजीसे कहते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १२५ ख)

'हे गिरिजे ! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है । पर वह श्रीहरिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है, ऐसी बात वेद और पुराण कहते हैं ।'

पूर्वके उत्तम संस्कारोंके प्रभावसे भी भक्तोंका मिलन होता है । श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अंता ॥
(उत्तर० ४४ । ३)

'भक्ति स्वतन्त्र साधन है और सब सुखोंकी खान है । परंतु सत्सङ्गके बिना प्राणी इसे नहीं पा सकते और पुण्यसमूहके बिना संत नहीं मिलते । सत्सङ्गति ही जन्म-मरणके चक्रका अन्त करती है ।'

अब ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं, जिनको गीतामें स्वयं भगवान्‌ने अपना प्रिय भक्त कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(१२। १३-१४)

'जो पुरुष जीवमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित सबका स्वार्थ-रहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे शून्य, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय कर देता है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें कर लिया है, जिसका मुझमें दृढ़ निश्चय है तथा जिसके मन एवं बुद्धि मुझमें अर्पित हैं, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त गुणातीत पुरुषोंका सभी प्राणियों एवं पदार्थोंके प्रति समान भाव होता है (गीता १४। २४-२५)। उनका किसीसे भी व्यक्तिगत स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता (गीता ३। १८)। उनका देह या मकान आदिमें ममता, आसक्ति और अभिमानका सर्वथा अभाव होता है (गीता १२। १९)। उनका यावन्मात्र प्राणियोंपर दया और प्रेम रहता है (गीता १२। १३) एवं उनका सबमें समभाव भी रहता है। उन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंके समभावका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समान दृष्टि रखते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने ज्ञानीको समदर्शी कहकर यह भाव व्यक्त किया है कि उनका सबके साथ शास्त्रविहित न्याययुक्त व्यवहारका भेद रहते हुए भी सबमें समभाव रहता है। सबके साथ समान व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि विवाह या श्राद्धादि कर्म ब्राह्मणसे ही करवाये जाते हैं, चाण्डाल आदिसे नहीं; दूध गायका ही पीया जाता है, कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी ही की जाती है, गायकी नहीं; पत्ते और घास आदि हाथी और गायको ही खिलाये जाते हैं; कुत्ते वा मनुष्योंको नहीं। अतः सबके हितकी ओर दृष्टि रखते हुए ही आदर-सत्कारपूर्वक सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही समव्यवहार है, न कि एक ही पदार्थसे सबकी समानरूपसे सेवा करना। किंतु सबमें व्यवहारका यथायोग्य भेद रहनेपर भी प्रेम और आत्मीयता अपने शरीरकी भाँति सबमें समान होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरमें प्रेम और आत्मभाव (अपनापन) समान होते हुए भी व्यवहार अपने ही अङ्गोंके साथ अलग-अलग होता है—जैसे मस्तकके साथ ब्राह्मणके समान, हाथोंके साथ क्षत्रियके समान, जङ्घाके साथ वैश्यके समान, पैरोंके साथ शूद्रके समान एवं गुदा-उपस्थादिके साथ अछूतके समान व्यवहार किया जाता है; उसी प्रकार सबके साथ अपने आत्माके समान समभाव रखते हुए ही यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें समदृष्टि रखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

श्रीरामचरितमानसमें भरतके प्रति संतोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
(उत्तर० ३७। १–४)

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥
(उत्तर० ३८)

'संत विषयोंमें लम्पट (लिप्त) नहीं होते; वे शील और सद्गुणोंकी खान होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दुःख और सुख देखकर सुख होता है। वे सबमें सर्वत्र सब समय समदृष्टि रखते हैं। उनके मनमें उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे घमंडसे

शून्य और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयके त्यागी होते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनोंपर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट (विशुद्ध) भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं; पर स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी (संतजन) मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं। उनमें कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण (आश्रित) होते हैं तथा शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नताके घर होते हैं। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्रभाव और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति होती है, जो (सम्पूर्ण) धर्मोंकी जननी है। हे तात! ये सब लक्षण जिनके हृदयमें बसते हों, उसको सदा सच्चा संत जानना। जिनका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, जो नियम (सदाचार) और नीति (मर्यादा) से कभी विचलित नहीं होते और मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते, जिन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं और मेरे चरणकमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सुखकी राशि संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।'

इन लक्षणोंमें बहुत-से तो आन्तरिक होनेके कारण स्वसंवेद्य हैं, अतः उनको वे भक्त स्वयं ही जानते हैं और बहुत-से आचरण ऐसे भी हैं, जिन्हें देखकर दूसरे लोग भी उनकी स्थितिका कुछ अनुमान लगा सकते हैं। किंतु वास्तवमें तो ईश्वर और महात्माओंकी जिनपर कृपा होती है, वे ही उनको जान सकते हैं। जिनके सङ्ग, दर्शन, भाषण और वार्तालापसे अपनेमें भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका

प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये तो, वे ही भगवत्प्राप्त संत हैं—यों समझकर उन सत्पुरुषोंसे लाभ उठाना चाहिये। जो सत्पुरुषोंका श्रद्धाभक्तिपूर्वक संग करके उनकी आज्ञाका पालन करता है, वही उनसे विशेष लाभ उठा सकता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(१३ । २५)

'दूसरे (मन्दबुद्धि लोग जो ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोगकी बात नहीं जानते) इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे—तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्संदेह पार कर लेते हैं।'

ऐसे संतोंके संगकी महिमा और प्रभावका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई ॥
(रा० च० मा० बाल० २ । २—५)

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड-चेतन जो भी जीव इस जगत्‌में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी उपायसे

बुद्धि (ज्ञान), कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई (अच्छापन) पायी है, वह सब सत्संगका ही प्रभाव समझना चाहिये । वेदोंमें और लोकमें भी उनकी प्राप्तिका दूसरा कोई साधन नहीं है । सत्संगके बिना विवेक (सत्-असत्की पहचान) नहीं होता और श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाके बिना वह सत्संग सहजमें मिलता नहीं । सत्संगति आनन्द और कल्याणकी जड़ है । सत्संगकी सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है, अन्य सब साधन तो फूल हैं । दुष्ट भी सत्संग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुहावना हो जाता है—सुन्दर सुवर्ण बन जाता है ।'

इसी विषयमें श्रीमहादेवजीने गरुड़जीसे कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ६१)

'सत्संगके बिना श्रीहरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, हरिकथा-श्रवणके बिना मोह नहीं भागता—मोहका नाश नहीं होता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता ।'

श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे कहा है—

सब कर फल हरि भगति सुहाई । सो बिनु संत न काहूँ पाई ॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा । राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ११९ । ९-१०)

'सुन्दर हरिभक्ति ही समस्त साधनोंका फल है । परंतु उसे संत (की कृपा) के बिना किसीने नहीं पाया । यों विचारकर

जो भी संतोंका संग करता है, हे गरुड़जी ! उसके लिये श्रीरामजी-की भक्ति सुलभ हो जाती है ।'

फिर जिनको भगवान्‌ने संसारका कल्याण करनेके लिये ही संसारमें भेजा है, उन परम अधिकारी पुरुषोंकी तो बात ही क्या है । उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और वार्तालापसे भी विशेष लाभ हो सकता है । जैसे किसी कामी पुरुषके अंदर कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे कामकी जागृति हो जाती है, वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे भगवत्प्रेमकी जागृति अवश्य होनी चाहिये । प्रसिद्ध है कि पारसके संगसे लोहा सोना बन जाता है; किंतु महात्माके संगकी तो उससे भी बढ़कर महिमा बतलायी गयी है; किसी कविने कहा है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरौ जान ।
वह लोहा कंचन करै, वह करैं आपु समान ॥

'पारसमें और संतमें बहुत अन्तर समझना चाहिये । पारस लोहेको सोना अवश्य बना देता है; किंतु संत तो अपने सम्पर्कमें आनेवालेको अपने समान ही बना लेते हैं ।'

पारसके साथ सम्बन्ध होनेपर लोहा अवश्य ही सोना बन जाता है । यदि न बने तो यही समझना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है या वह लोहा लोहा नहीं है । इसी प्रकार महापुरुषों-के संगसे साधक अवश्य ही महापुरुष बन जाता है । यदि नहीं बनता तो यही समझना चाहिये कि या तो वह महापुरुष महापुरुष नहीं है अथवा साधकमें श्रद्धा-विश्वास और प्रेमकी कमी है ।

उन भगवद्भक्त अधिकारी पुरुषोंकी तो जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, वे जिनका मनसे स्मरण कर लेते हैं या जिनका स्पर्श कर लेते हैं, उन व्यक्तियों और पदार्थोंमें भगवत्प्रेमके परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। किसी जिज्ञासुके मरनेके पूर्व यदि वे वहाँ पहुँच जाते हैं तो कथा-कीर्तन सुनाकर उसका कल्याण कर देते हैं। श्रीनारद-पुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥
(ना० पूर्व० ७। ७४-७५)

'जो अधिकारी महापुरुषोंके द्वारा देख लिये जाते हैं वे महापातक या उपपातकोंसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृत शरीरको, उसकी चिताके धूएँको अथवा उसके भस्मको भी देख लें तो वह मृतक पुरुष भी परम गतिको पा लेता है।'

इसीलिये महापुरुषोंके संगकी महिमा शास्त्रोंमें विशेषरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१। १८। १३)

'भगवत्संगी (भगवत्प्रेमी) पुरुषके लव (क्षण) मात्रके भी संगके साथ हम स्वर्गकी तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते; फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है?'

श्रीरामचरितमानसमें भी लङ्किनी राक्षसीका हनुमान्‌जीके प्रति इसी तरहका वचन मिलता है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥
(सुन्दर० ४)

'हे तात ! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको यदि तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय तो वे सब मिलकर भी (दूसरे पलड़ेपर रखे हुए) उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्संगसे प्राप्त होता है ।'

ऐसे महापुरुषोंकी कृपाको भक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन बतलाते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा ।
(ना० भ० सू० ३८)

'भगवान्‌की भक्ति मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे ही अथवा भगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है ।'

नारदजी फिर कहते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।
(ना० भ० सू० ३९)

'उन महापुरुषोंका संग दुर्लभ एवं अगम्य होते हुए भी मिल जानेपर अमोघ होता है ।'

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव । (ना० भ० सू० ४०)

'और वह भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है ।'

श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥
(११ । २ । २९)

'प्राणियोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना कठिन है। यदि यह प्राप्त हो भी गया तो है यह क्षणभङ्गुर। और ऐसे अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्रिय भक्तजनोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है।'

ऐसे महापुरुषोंका मिलन हो जाय तो हमलोगोंको चाहिये कि हम उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करें, उनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रश्न करके भगवान्‌के तत्त्वको जानें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनकी सेवा करें। उनकी आज्ञाका पालन करना ही उनकी वास्तविक सेवा है तथा इससे भी बढ़कर है उन महापुरुषोंके संकेत, सिद्धान्त और मनके अनुकूल चलना, अपने मन-इन्द्रियोंकी डोरको उनके हाथमें सौंप देना और उनके हाथकी कठपुतली बन जाना। इस प्रकारकी चेष्टा करनेवाले परम श्रद्धालु मनुष्यके अंदर उन सत्पुरुषोंके संगके प्रभावसे सद्गुण-सदाचारका प्रादुर्भाव तथा दुर्गुण-दुराचारका नाश ही नहीं, अपितु भगवान्‌की भक्ति, उनके तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्राप्ति आदि सहजमें ही हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें सत्संगके प्रभावके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमलोगोंको उनपर ध्यान देना चाहिये। भगवान्‌के प्रेम और मिलनरूप सत्संगके श्रेष्ठ उदाहरण हैं—सुतीक्ष्ण और शबरी। इनकी कथा श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देखनेको मिलती है तथा भगवत्प्राप्त भक्तोंके संगसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान और उनकी

प्राप्ति होनेके तो बहुत उदाहरण हैं। श्रीनारदजीके संग और उपदेशसे ध्रुवको भगवान्‌के दर्शन हो गये और उनके अभीष्टकी भी सिद्धि हो गयी (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय ८-९)। श्रीकाकभुशुण्डिजीके सत्सङ्गसे गरुड़जीका मोहनाश ही नहीं, उन्हें भगवान्‌का अनन्य प्रेम भी प्राप्त हो गया (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड) तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके संग और उपदेशसे श्रीवास, रघुनाथ भट्ट और हरिदास आदिका उद्धार हो गया।

इसी प्रकार जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंके संगसे भी परमात्माका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके बहुत उदाहरण मिलते हैं। महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन करनेसे जबाला-पुत्र सत्यकामको तथा सत्यकामके संग और सेवासे उपकोसलको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य उप० अ० ४, खं० ४ से १७)। राजा अश्वपतिका संग करनेपर उनके उपदेशसे महात्मा उद्दालकको साथ लेकर उनके पास आये हुए प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामक पाँच ऋषियोंको ज्ञान प्राप्त हो गया। (छान्दोग्य उप० अ० ५, खं० ११ से २४)। अरुणपुत्र उद्दालकके सत्संगसे श्वेतकेतुको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य उप० अ० ६, खं० ८ से १६)। श्रीसनत्कुमारजीके संग और उपदेशसे नारदजीका अज्ञानान्धकार दूर हो गया तथा उनको ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (छान्दोग्य उप० अ० ७)। याज्ञवल्क्य मुनिके उपदेशसे मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (बृहदारण्यक० अ० ४, ब्रा० ५)। श्रीधर्मराजके संग और उपदेशसे नचिकेता आत्मतत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो

गये (कठोपनिषद् अ० १-२)। महात्मा जडभरतके संग और उपदेशसे राजा रहूगणको परमात्माका ज्ञान हो गया (भागवत स्कन्ध ५, अ० १० से १३)। इस प्रकार सत्संगसे भगवान्‌में प्रेम, उनके तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके उदाहरण श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणोंमें भरे पड़े हैं। हमलोगोंको चाहिये कि शास्त्रोंका अनुशीलन करके सत्संगका प्रभाव समझें और संगके अनुसार सत्पुरुषोंके संगका लाभ उठायें; क्योंकि मनुष्य जैसा संग करता है, वैसा ही बन जाता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'जैसा करै संग, वैसा चढ़ै रंग।' और देखनेमें भी आता है कि मनुष्य योगीके सङ्गसे योगी, भोगीके संगसे भोगी और रोगीके संगसे रोगी हो जाता है। इस बातको समझकर हमें संसारासक्त मनुष्योंका संग न करके महात्मा पुरुषोंका ही संग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका संग मुक्ति-दायक है और संसारासक्त मनुष्योंका संग बन्धनकारक है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ३३)

'संतका संग मोक्ष (भव-बन्धनसे छूटने) का और कामीका संग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़नेका मार्ग है। संत, ज्ञानी और पण्डित तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्‌ग्रन्थ ऐसी बात कहते हैं।'

किंतु यदि महात्मा पुरुषोंका संग प्राप्त न हो तो उनके अभावमें विरक्त दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिके साधकोंका संग करना चाहिये। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, साधन करते हुए उनका संग करनेसे भी बहुत

लाभ होता है; क्योंकि वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे वैराग्यके भाव जाग्रत् होते हैं और मनकी एकाग्रता हो जाती है। श्रीपातञ्जल-योगदर्शनमें बतलाया गया है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१।३७)

'जिन पुरुषोंकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, ऐसे विरक्त पुरुषोंको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला व्यक्ति स्थिरचित्त हो जाता है।'

जो उच्चकोटिके वीतराग साधु-महात्मा होते हैं, उनके लिये त्रिलोकीका ऐश्वर्य भी धूलके समान होता है। वे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको कलङ्क समझते हैं। इसलिये वे न अपने पैर पुजवाते हैं, न अपने पैरोंकी धूल किसीको देते हैं और न पैरोंका जल ही। न वे अपना फोटो पुजवाते हैं और न मान-पत्र ही लेते हैं। वे अपनी कीर्ति कभी नहीं चाहते, बल्कि जहाँ कीर्ति होती है, वहाँ ठहरते ही नहीं; फिर अपनी आरती उतरवाने और लोगोंको उच्छिष्ट खिलानेकी तो बात ही क्या है। यदि ऐसे विरक्त महापुरुषोंका सङ्ग न प्राप्त हो तो मनुष्यको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग तो कभी न करे। दुष्ट पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

(रा० च० मा० उत्तर० ३८।१–३)

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥
(रा० च० मा० उत्तर० ३९)

मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥
ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥
(रा० च० मा० उत्तर० ३९। ३-४; ४०)

'अब असंतों (दुष्टों) का स्वभाव सुनो। कभी भूलकर भी उनकी संगति नहीं करनी चाहिये। उनका सङ्ग उसी प्रकार सदा दुःख देनेवाला होता है, जैसे हरहाई (बुरे स्वभावकी) गाय कपिला (अच्छे स्वभाववाली सीधी और दुधार गायको अपने सङ्गसे नष्ट कर डालती है। दुष्टोंके हृदयमें बहुत अधिक संताप होता है। वे पराई सम्पत्ति (सुख) देखकर सदा जलते रहते हैं, वे जहाँ कहीं दूसरेकी निन्दा सुन लेते हैं, वहाँ ऐसे हर्षित होते हैं, मानो रास्तेमें पड़ा खजाना उन्हें मिल गया हो। वे काम, क्रोध, मद और लोभके परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापोंके घर होते हैं। वे बिना ही कारण सब किसीसे वैर किया करते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है उसका भी अपकार करते हैं। वे दूसरोंसे द्रोह करते हैं और परायी स्त्री, पराये धन तथा परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। वे पामर और पापमय मनुष्य नर-शरीर धारण किये हुए राक्षस ही हैं। वे माता, पिता, गुरु

और ब्राह्मण—किसीको नहीं मानते। स्वयं तो नष्ट हुए ही रहते हैं, अपने सङ्गसे दूसरोंको भी नष्ट करते हैं। वे मोहवश दूसरोंसे द्रोह करते हैं। उन्हें न संतोंका सङ्ग अच्छा लगता है, न भगवान्की कथा ही सुहाती है। वे अवगुणोंके समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी तथा वेदोंके निन्दक होते हैं और बलपूर्वक पराये धनके स्वामी बन जाते हैं। वे ब्राह्मणोंसे तो द्रोह करते ही हैं, परमात्माके साथ भी विशेषरूपसे द्रोह करते हैं। उनके हृदयमें दम्भ और कपट भरा रहता है, परंतु वे ऊपरसे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं। ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वापरमें थोड़े होते हैं; किंतु कलियुगमें तो इनके झुंड-के-झुंड होते हैं।'

आगे फिर कलियुगका वर्णन करते हुए पूज्यपाद गोस्वामीजी कहते हैं—

कलि मल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ९७ क)

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥

× × × ×

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
(रा० च० मा० उत्तर० ९७। २-४; ९८ क)

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना । मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ॥
गुर सिष बधिर अंध का लेखा । एक न सुनइ एक नहिं देखा ॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई । सो गुर घोर नरक महुँ परई ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ९८ । १, ३, ४)

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा । स्वपच किरात कोल कलवारा ॥
नारि मुई गृह संपति नासी । मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी ॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं । उभय लोक निज हाथ नसावहिं ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ९९ । ३-४)

'कलियुगके पापोंने सारे धर्मोंको ग्रस लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये, दम्भियोंने अपनी बुद्धिसे कल्पना करके बहुत-से पंथ प्रकट कर दिये । कलियुगमें जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है । जो डींग मारता है, वही पण्डित है । जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं । जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है । जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है । जो आचारहीन और वेदमार्गका त्यागी है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है । जिसके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है । जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य)—सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं । शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानोपदेश करते हैं और गलेमें जनेऊ डालकर कुत्सित दान लेते हैं । गुरु और शिष्य क्रमशः अन्धे और बहरेके समान होते हैं—एक (शिष्य) गुरुके उपदेशको सुनता नहीं,

दूसरा (गुरु) देखता नहीं (ज्ञानदृष्टिसे हीन है) । जो गुरु शिष्यका धन तो हर लेता है, पर शोक नहीं मिटा सकता, वह घोर नरकमें पड़ता है । तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्णमें नीचे हैं, वे स्त्रीके मरनेपर अथवा घरकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं । वे अपनेको ब्राह्मणोंसे पुजवाते हैं, जिससे अपने ही हाथों इस लोक और परलोक—दोनोंको नष्ट करते हैं ।'

सुना और देखा भी जाता है कि आजकल दम्भी लोग भक्त साधु, ज्ञानी, योगी और महात्मा सजकर अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान करवाते हैं तथा अपने पैरोंका जल पिलाकर एवं अपनी जूठन खिलाकर अपना और लोगोंका धर्म भ्रष्ट करते हैं । ऐसे दम्भी मनुष्योंसे सब लोगोंको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यमें दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होती है और परिणामतः उसका पतन हो जाता है । इसके विपरीत जिस पुरुषके दर्शन, भाषण, वार्तालाप और सङ्गसे हमारे अंदर गीताके १६ वें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए सद्गुण-सदाचाररूप दैवी-सम्पदाके लक्षण प्रकट हों और भगवान्की भक्तिका उदय हो, उसे दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिका साधक भगवद्भक्त समझना चाहिये । ऐसे साधक भक्तोंके लक्षण गीताके ९वें अध्यायके १३वें, १४वें श्लोकोंमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

'हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं । वे दृढ़निश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ।'

ऐसे पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करनेसे दैवी-सम्पदाके लक्षणोंका और ईश्वर-भक्तिका प्रादुर्भाव अवश्य ही होना चाहिये । यदि नहीं होता तो समझना चाहिये कि या तो जिस साधक भक्तका हम सङ्ग कर रहे हैं, उसमें कोई कमी है अथवा हममें श्रद्धा-भक्तिकी कमी है ।

किंतु यदि ऐसे उच्चकोटिके वीतराग साधकोंका भी सङ्ग न मिले तो सत्-शास्त्रोंका सङ्ग (अध्ययन) करना चाहिये; क्योंकि सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है । श्रुति-स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि इतिहास-पुराण तथा इसी प्रकारके ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसे युक्त अन्य सत्-शास्त्रोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनुशीलन तथा उनमें कही हुई बातोंको हृदयमें धारण और पालन करनेसे भी मनुष्यका संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम होता है तथा आगे चलकर वह सच्चा भक्त बन जाता है एवं भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है ।



भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं

बहुत-से सज्जन मनमें शङ्का उत्पन्न कर इस प्रकारके प्रश्न किया करते हैं कि दो प्यारे मित्र जैसे आपसमें मिलते हैं क्या इसी प्रकार इस कलिकालमें भी भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन मिल सकते हैं? यदि सम्भव है तो ऐसा कौन-सा उपाय है कि जिससे हम उस मनमोहिनी मूर्तिका शीघ्र ही दर्शन कर सकें? साथ ही यह भी जानना चाहते हैं, क्या वर्तमानकालमें ऐसा कोई पुरुष संसारमें है, जिसको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान् मिले हों?

वास्तवमें तो इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर वे ही महान् पुरुष दे सकते हैं, जिनको भगवान्‌की उस मनमोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन हुआ हो।

यद्यपि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ तथापि परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे केवल अपने मनोविनोदार्थ तीनों प्रश्नोंके सम्बन्धमें क्रमशः कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

(१) जिस तरह सत्ययुग आदिमें ध्रुव, प्रह्लादादिको साक्षात् दर्शन होनेके प्रमाण मिलते हैं, उसी तरह कलियुगमें भी सूरदास, तुलसीदासादि बहुत-से भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन होनेका इतिहास मिलता है; बल्कि विष्णुपुराणादिमें तो सत्ययुगादिकी अपेक्षा कलियुगमें भगवत्-दर्शन होना बड़ा ही सुगम बताया गया है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(१२ । ३ । ५२)

'सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञद्वारा यजन करनेसे और द्वापरमें पूजा (उपासना) करनेसे जिस परम-गतिकी प्राप्ति होती है वही कलियुगमें केवल नाम-कीर्तनसे मिल जाती है ।'

जैसे अरणीकी लकड़ियोंको मथनेसे अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार सच्चे हृदयकी प्रेमपूरित पुकारकी रगड़से अर्थात् उस भगवान्के प्रेममय नामोच्चारणकी गम्भीर ध्वनिके प्रभावसे भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं । महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगदर्शनमें कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः । (२ । ४४)

'नामोच्चारणसे इष्टदेव परमेश्वरके साक्षात् दर्शन होते हैं ।'

जिस तरह सत्य-संकल्पवाला योगी जिस वस्तुके लिये संकल्प करता है, वही वस्तु प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है, उसी तरह शुद्ध अन्तःकरणवाला भगवान्का सच्चा अनन्य प्रेमी भक्त जिस समय भगवान्के प्रेममें मग्न होकर भगवान्की जिस प्रेममयी मूर्तिके दर्शन करनेकी इच्छा करता है, उस रूपमें ही भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं । गीता अध्याय ११ श्लोक ५४में भगवान्ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुज

रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

एक प्रेमी मनुष्यको यदि अपने दूसरे प्रेमीसे मिलनेकी उत्कट इच्छा हो जाती है और यह खबर यदि दूसरे प्रेमीको मालूम हो जाती है तो वह स्वयं बिना मिले नहीं रह सकता; फिर भला यह कैसे सम्भव है कि जिसके समान प्रेमके रहस्यको कोई भी नहीं जानता, वह प्रेममूर्ति परमेश्वर अपने प्रेमी भक्तसे बिना मिले रह सके ?

अतएव सिद्ध होता है कि वह प्रेममूर्ति परमेश्वर सब काल तथा सब देशमें सब मनुष्योंको भक्तिवश होकर अवश्य ही प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।

(२) भगवान्के मिलनेके बहुत-से उपायोंमेंसे सर्वोत्तम उपाय है 'सच्चा प्रेम'। उसीको शास्त्रकारोंने अव्यभिचारिणी भक्ति, भगवान्में अनुरक्ति, प्रेमाभक्ति और विशुद्धभक्ति आदि नामोंसे कहा है।

जब सत्सङ्ग, भजन, चिन्तन, निर्मलता, वैराग्य, उपरति, उत्कट इच्छा और परमेश्वरविषयक व्याकुलता क्रमसे होती है, तब भगवान्में सच्चा, विशुद्ध प्रेम होता है।

शोक तो इस बातका है कि बहुत-से भाइयोंको तो भगवान्के अस्तित्वमें ही विश्वास नहीं है। कितने भाइयोंको यदि विश्वास है भी, तो वे क्षणभङ्गुर, नाशवान् विषयोंके मिथ्या सुखमें लिप्त रहनेके कारण उस प्राणप्यारेके मिलनेके प्रभावको और महत्त्वको ही नहीं जानते। यदि कोई कुछ सुन-सुनाकर तथा कुछ विश्वास करके उसके प्रभावको कुछ जान भी लेते हैं तो अल्प चेष्टासे ही संतुष्ट होकर

बैठ जाते हैं या थोड़े-से साधनोंमें ही निराश-से हो जाया करते हैं। द्रव्य-उपार्जनके बराबर भी परिश्रम नहीं करते।

बहुत-से भाई कहा करते हैं कि हमने बहुत चेष्टा की; परंतु प्राणप्यारे परमेश्वरके दर्शन नहीं हुए। उनसे यदि पूछा जाय कि क्या तुमने फाँसीके मामलेसे छूटनेकी तरह भी कभी सांसारिक जन्म-मरणरूपी फाँसीसे छूटनेकी चेष्टा की? घृणास्पद, निन्दनीय स्त्रीके प्रेमके वशीभूत होकर उसके मिलनेकी चेष्टाके समान भी कभी भगवान्‌से मिलनेकी चेष्टा की? यदि नहीं, तो फिर यह कहना कि भगवान् नहीं मिलते, सर्वथा व्यर्थ है।

जो मनुष्य शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्मके सदृश भगवान्‌के ध्यानमें मस्त होते हैं, भगवान् भी उनके ध्यानमें उसी तरह मग्न हो जाते हैं। गीता अध्याय ४ श्लोक ११ में भी भगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'हे अर्जुन! जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

भगवान्‌के निरन्तर नामोच्चारणके प्रभावसे जब क्षण-क्षणमें रोमाञ्च होने लगते हैं, तब उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश होकर उसको भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। विरह-वेदनासे अत्यन्त व्याकुल होनेके कारण नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लग जाती है तथा जब वह त्रैलोक्यके ऐश्वर्यको लात मारकर गोपियोंकी तरह पागल हुआ विचरता है और जलसे बाहर निकाली हुई मछलीके समान भगवान्‌के लिये तड़पने लगता है, उसी समय

आनन्दकन्द प्यारे श्यामसुन्दरकी मोहिनी मूर्तिका दर्शन होता है। यही है उस भगवान्‌से मिलनेका सच्चा उपाय।

यदि किसीको भी भगवान्‌के मिलनेकी सच्ची इच्छा हो तो उसे चाहिये कि वह रुक्मिणी, सीता और व्रजबालाओंकी तरह सच्चे प्रेमपूरित हृदयसे भगवान्‌से मिलनेके लिये विलाप करे।

(३) यद्यपि प्रकटमें तो ऐसे पुरुष कलिकालमें नहीं दिखायी देते जिनको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए हों, तथापि सर्वथा न हों यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रह्लाद आदिकी तरह हजारोंमेंसे किसी कारणविशेषसे ही किसी एककी लोकप्रसिद्धि हो जाया करती है, नहीं तो ऐसे लोग इस बातको विख्यात करनेके लिये अपना कोई प्रयोजन ही नहीं समझते।

यदि यह कहा जाय कि संसार-हितके लिये सबको यह जताना उचित है, सो ठीक है, परंतु ऐसे श्रद्धालु श्रोता भी मिलने कठिन हैं तथा बिना पात्रके विश्वास होना भी कठिन है। यदि बिना पात्रके कहना आरम्भ कर दिया जाय तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता और न कोई विश्वास ही करता है।

अतः हमें विश्वास करना चाहिये कि ऐसे पुरुष संसारमें अवश्य हैं, जिनको उपर्युक्त प्रकारसे दर्शन हुए हैं। परंतु उनके न मिलनेमें हमारी अश्रद्धा ही हेतु है और न विश्वास करनेकी अपेक्षा विश्वास करना ही सबके लिये लाभदायक है; क्योंकि भगवान्‌से सच्चा प्रेम होनेमें तथा दो मित्रोंकी तरह भगवान्‌की मनमोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है।



जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायसे उत्तरोत्तर उन्नतिका दिग्दर्शन

कोई-कोई भाई ऐसा कहते हैं कि 'हम ध्यान करते हैं, नामका जप करते हैं, माला भी अधिक संख्यामें फेरते हैं, किंतु हमें विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता, हमारी स्थिति वैसी-की-वैसी ही दिखायी देती है।' कितने ही भाई कहते हैं—'हम बीस सालसे सत्सङ्ग करते हैं, किंतु विशेष लाभ नहीं देखनेमें आता।' इन लोगोंके कथनपर कुछ विचार करना आवश्यक है। मान लीजिये कि एक आदमी गीताका पाठ करता है, उसे पाठ करते दस वर्ष बीत गये, किंतु उसका कोई सुधार नहीं हुआ; तो यह तो निश्चय ही है, इसमें गीताका तो कोई दोष है नहीं। तब फिर सुधार क्यों नहीं हो रहा है? जो पुरुष गीताका अभ्यास करता है और उसका सुधार नहीं हो रहा है, उसको यह सोचना चाहिये कि गीतामें तो कोई ऐसी बात है नहीं कि जिससे उसका पाठ करनेपर उल्टी खराबी हो या पाठका अभ्यास करनेसे आगे बढ़नेमें रुकावट पड़े। तो फिर बात क्या है? तब फिर यही निश्चय होता है कि गीताके साधनमें ही कहीं-न-कहीं त्रुटि है। हम सत्सङ्ग करते हैं, पर हमारा कोई सुधार नहीं हुआ। जो सत्सङ्ग नहीं करते हैं, वे भी वैसे ही हैं और जो सत्सङ्ग करते हैं, वे भी वैसे ही रहे। तो यह समझना चाहिये कि सत्सङ्गसे कोई हानि हो, ऐसी बात तो है ही नहीं

और न सत्सङ्ग आगे बढ़नेसे रोकता ही है। इसी प्रकार भजन-ध्यानके विषयमें भी समझना चाहिये कि भजन-ध्यान करनेसे हानि हो, यह बात तो असम्भव है। तो फिर क्या बात है? बात यह है कि हमारा साधन उच्चकोटिका नहीं है। साधन मूल्यवान् होना चाहिये। जिस प्रकार आप धन कमानेके लिये हृदयसे चेष्टा करते हैं और उस कामको ध्यान देकर बड़ी सावधानीके साथ सुचारुरूपसे करते हैं, इसी प्रकार गीतापाठ, जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधन भी आपको तत्परता तथा आदरपूर्वक और ध्यान देकर निष्कामभावसे अच्छी प्रकार करने चाहिये। जब आप साधनका आदर नहीं करेंगे, तब साधन भी आपका आदर कैसे करेगा? आदरका क्या अर्थ है? गीतामें हमारी आदरबुद्धि होगी तो हम जहाँ भी बैठेंगे, हम गीताको अपने बैठनेके स्थानसे उच्च आसनपर आदरपूर्वक रक्खेंगे यानी जैसे सिक्खलोग ग्रन्थसाहबको मानते हैं, उसी प्रकार हम उसका विशेष आदर करेंगे। दूसरी बात यह कि हम उसका पाठ बड़े प्रेमसे—अनुरागसे धीरे-धीरे सम्मानपूर्वक करेंगे; क्योंकि हमें उसके द्वारा श्रीभगवान्को प्रसन्न करना है। यह नहीं कि बड़ी जल्दीसे समाप्त करनेके लिये डाकगाड़ी-सी छोड़ देंगे। तीसरी बात यह कि हमने आज जो गीताका पाठ किया, वह कौन-से अध्यायके कौन-से श्लोक थे—यह याद रक्खें और उनके अर्थ और भावपर ध्यान दें। किसीने पूछा कि आज किस अध्यायका पाठ किया तो बोले—आज पञ्चमी है तो पाँचवें अध्यायका ही पाठ किया होगा। आपने प्रातःकाल ही पाठ किया, वह भी पूरा याद नहीं कि किस अध्यायका पाठ किया, तो गीताके ऐसे पाठसे विशेष लाभ कैसे होगा।

आप गीताका पाठ करते हैं, पाठ करते-करते नींद आ गयी, पुस्तक आपके हाथसे गिर गयी, फिर पुस्तक उठाकर सोचने लगे, किस अध्यायके किस श्लोकका पाठ कर रहे थे। ऐसा पाठ करना तो गीताका अनादर करना है और जब आप गीताका यों अनादर करेंगे, तब गीताके अध्ययनसे जो लाभ होना चाहिये, वह आपको कैसे होगा ?

इसी प्रकार आपने सत्सङ्ग किया। किसीने पूछा कि 'आप सत्सङ्गमें गये थे ?' कहा—'हाँ गये थे।' पूछा—'क्या विषय था ?' कहा—'सत्सङ्ग बहुत अच्छा था, पर क्या विषय था सो तो याद नहीं है।' 'वाह, आप अभी-अभी सत्सङ्गसे आ रहे हैं, फिर याद कैसे नहीं है ?' तो बोले—'हमें कुछ झपकी-सी आ गयी थी।' दूसरे भाईसे पूछा—'क्या आप सत्सङ्गमें गये थे ?' बोले—'सत्सङ्गको तो सभी लोगोंने अच्छा बताया।' 'अजी ! लोगोंने तो अच्छा बतलाया, पर आप भी तो थे न ?' कहा—'था तो सही।' फिर पूछा—'तो सत्सङ्गमें किस विषयका विवेचन हुआ ?' बोले—'मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, मैंने ध्यान देकर सुना नहीं।' तीसरे भाईसे पूछा—'आज प्रसङ्ग क्या हुआ ?' बोले—'सुना तो था किंतु याद नहीं।' सोचिये, जब अभी-अभी सत्सङ्गमें सुनी हुई बात याद ही नहीं रही, तब उसका पालन आप क्या करेंगे। बात यह है कि आपने आदरपूर्वक ध्यान देकर सुना ही नहीं।

इसी प्रकार आप जप करते हैं, आपका मन इधर-उधर चला गया; आप माला फेर रहे हैं, माला हाथसे गिर गयी। कितनी माला

फेरी यह ध्यान नहीं है। तो यह जप आदरपूर्वक नहीं है। माला फेरते समय एक तो भगवान्‌के नामके जपका तार नहीं टूटना चाहिये। दूसरे, जप करते समय खूब प्रसन्नचित्त रहना चाहिये और समझना चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर बड़ी भारी कृपा है, जो कि उनके नामका जप मेरेद्वारा हो रहा है। जप करते समय उसके अर्थका भी ज्ञान होना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपका भी ध्यान होना चाहिये एवं जप निष्काम प्रेमभावसे करना चाहिये तथा ऐसे श्रद्धा-विश्वासके साथ करना चाहिये कि 'जप करनेसे पापोंका नाश होकर मेरा निश्चय ही कल्याण हो जायगा, इसमें तनिक भी शङ्का नहीं है।'

इसी प्रकार ध्यानके विषयमें समझना चाहिये। ध्यान करते समय भगवान्‌की लीलाका मनसे स्मरण होना चाहिये तथा भगवान्‌की लीलाके साथ-साथ भगवान्‌के स्वरूप और सौन्दर्य-माधुर्यको देख-देखकर पल-पलमें मुग्ध होना चाहिये। भगवान्‌के चरित्रोंमें भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ओर भी दृष्टि डालनी चाहिये। भगवान्‌की जो कुछ लीला है, उसका तत्त्व-रहस्य भी साथ-ही-साथ समझना चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान करना बहुत उत्तम है।

जब शास्त्रोंकी बातें महात्माओंसे सुनी जायँ तो सुनते समय इस बातपर अत्यन्त मुग्ध होना चाहिये कि भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है, जो ये बातें हमको सुननेको मिलीं। फिर उन बातोंको समझकर हृदयमें धारण करना चाहिये कि आजसे हमें

यही करना है, यही बात आजसे हमको काममें लानी है। ऐसा करनेपर आपका जीवन शीघ्र ही बदल सकता है।

अब फिर कुछ रहस्यकी बातें बतायी जा रही हैं। चार बातें सार हैं—(१) भगवान्‌के नामका जप, (२) भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान, (३) स्वाध्याय करते समय उसके अर्थ और भावकी ओर दृष्टि तथा (४) सत्सङ्ग। अपने मनसे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इनसे हमारा निश्चय ही सुधार होकर उद्धार होगा।' जैसे भोजन करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति अवश्य होती है और जल पीनेसे पिपासा अवश्य मिटती है, यह सर्वथा प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार यह भी प्रत्यक्ष है। प्रतिदिन उसे सँभाल लेना चाहिये कि आज सत्सङ्ग करनेके बाद अपनेमें कितना सुधार हुआ यानी कौन-कौन-सी बातें जीवनमें धारण हुईं। आज रामायण पढ़ी तो पढ़नेके बाद यह देख लेना चाहिये कि उसमें कौन-सा प्रसङ्ग था और उससे मुझे क्या शिक्षा मिली और मेरा क्या सुधार हुआ। आज जप किया, ध्यान किया तो जप करनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य हो जायगा और सद्गुण-सदाचार अपने-आप ही अवश्य आ जायँगे। भजन-ध्यानसे हममें सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव अवश्य ही होगा। जब सद्गुण-सदाचार आयेंगे, तब उनके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश भी अवश्य हो जायगा। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकारका नाश होता ही है। इसी प्रकार जहाँ सद्गुण हैं, वहाँ दुर्गुण रह ही नहीं सकते। जहाँ ईश्वरकी भक्ति है, वहाँ पाप रह ही नहीं सकते। इस प्रकार समझकर हमें अपने हृदयको रोज सँभालना चाहिये। जैसे लोभी मनुष्य व्यापार करते समय प्रतिदिन यह सँभाल लेता है कि

आज कितना माल बिका और उसमें कितना मुनाफा हुआ। वह लोभी आदमी प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करता रहता है। इसी तरह हमलोगोंको प्रतिदिन अपने साधनकी सँभाल कर लेनी चाहिये कि 'कलकी अपेक्षा आज साधनमें कितनी उन्नति हुई और उन्नति न हुई तो क्यों नहीं हुई।' इस प्रकार उसका कारण ढूँढ़कर उसे सावधानीसे दूर करें एवं प्रतिदिन उन्नतिकी चेष्टा करते रहें और यह समझते रहें कि 'ईश्वरका हमारे मस्तकपर हाथ है, उनकी अनन्त कृपा है। देखो, हम किस लायक हैं। यह तो ईश्वरकी अहैतुकी कृपा है जो वे हमें संसारसे निकालकर हमारा उद्धार करना चाहते हैं। जब ईश्वरकी हमपर इतनी दया है, उनका इतना ध्यान है, तब फिर हमारे उद्धारमें क्या शङ्का है।'

किसी गरीब आदमीपर किसी करोड़पति धनी आदमीका हाथ हो तो वह निर्भय हो जाता है। अपने ऊपर तो ईश्वरका हाथ है। फिर बात ही क्या है। इस प्रकार समझकर और ध्यानमें ईश्वरके स्वरूपको देखकर हर समय प्रसन्न होते रहना चाहिये कि उनका रूप और लावण्य अत्यन्त मनोहर और अलौकिक है तथा अपने ऊपर भगवान्‌का अतिशय प्रेम देखकर भी हर समय प्रसन्न होना चाहिये कि भगवान् हमसे कितना प्यार कर रहे हैं।

जो कुछ हो रहा है, यह सब परेच्छा और अनिच्छासे हो रहा है। जो परेच्छासे हो रहा है, उसे भगवान् करवा रहे हैं और जो अनिच्छासे हो रहा है, वह स्वयं भगवान् कर रहे हैं। उसको देख-देखकर हर समय प्रसन्न होना चाहिये, उसमें भगवान्‌की अहैतुकी दयाका अनुभव करना चाहिये—यह समझना चाहिये कि

जो कुछ भी हो रहा है, उसमें भगवान्‌की दया ओतप्रोत है। यदि किसी समय ऐसा प्रतीत हो कि इसमें भगवान्‌की दया नहीं है—कोप है, तो यह समझे कि वह कोप भी है तो भगवान्‌का ही न, अतः उसमें भी उनकी दया ही भरी है। बालकपर माताका कोप होता है तो बालक कोपमें भी माँकी दया ही समझता है; क्योंकि स्नेहमयी माँ कभी बालकका अनिष्ट नहीं करती। माँ कोप करती है तो लड़केपर अनुशासन करनेके लिये करती है, जिससे उसका सुधार हो। अतः जिस प्रकार माँके कोपमें दया भरी रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌के कोपमें भी दया भरी है।

परेच्छा उसका नाम है, जो दूसरेकी इच्छासे हो। परेच्छाके उदाहरण देखिये—जैसे कोई भाई किसी नाबालिग लड़केको अपना दत्तक पुत्र बनाकर उसे अपनी सम्पत्तिका स्वामी बना दे तो यह समझना चाहिये कि वह लड़का सम्पत्तिका स्वामी परेच्छासे बना। लड़केने कोई कमाई नहीं की, परिश्रम भी नहीं किया; किंतु जब वह लड़का बालिग होकर अच्छी तरह समझता है, उस समय उसे प्रसन्नता होती है कि मुझपर पिताकी कितनी दया है कि उन्होंने मुझे अपना लड़का बनाकर अपनी पाँच लाखकी सम्पत्तिका स्वत्वाधिकारी बनाया। यह उसे परेच्छासे लाभ मिला। अब परेच्छासे होनेवाली हानिका उदाहरण देखिये—किसी डाकूने हमारे पास रुपये समझकर पीछेसे चार लाठी जमा दी और रुपये छीनकर ले गया तो रुपये भी गये और चोट भी आयी। देखनेमें यह हमारे लिये बहुत हानिकी बात हुई। यह हमारी हानि परेच्छासे हुई और पहले बताया हुआ लाभ भी परेच्छासे हुआ। हमें जो परेच्छासे

लाभ हुआ, वह पुण्यका फल है और हमारे जो वह चोट लगी तथा धन गया, यह हमारे पापका फल है। पापका फल दुःख है, पुण्यका फल सुख है तो यह परेच्छासे पाप और पुण्य दोनोंका फल मिला। यह ईश्वरका विधान है। अतः इन दोनोंमें प्रसन्नता होनी चाहिये। यदि कहें कि रुपया मिले तो प्रसन्नता होती है, पर चोट लगने और धन जानेपर तो दुःख ही होता है; तो मैं यह कहता हूँ कि जो आपको रुपये मिले, उसमें भी भगवान्‌की दया है, पर उससे भी अधिक दया उसमें है जिसको आप अनिष्ट मानते हैं। यह बात सबकी समझमें नहीं आती। परंतु गहराईसे समझनेकी बात है। आपको धन मिला, यह किसका फल है? पुण्यका फल है। अच्छा, पुण्यका फल मिल गया, तब पुण्यका क्षय हो गया। उतनी पुण्यकी पूँजी कम हो गयी। अतः आप यहाँसे जायँगे तब इतनी पूँजीका नुकसान लेकर ही तो जायँगे। यदि आपने यह भाव समझा कि ईश्वरकी कृपासे धन मिला है तो फिर उससे परमात्माकी प्राप्तिके विषयका ही लाभ उठाना चाहिये। तब तो परमात्माकी आपपर दया हुई। पर जो धन मिला, उस धनको लेकर यदि आप मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, अनाचार, व्यभिचार करते हैं तथा धनकी वृद्धिके लिये झूठ, कपट, चोरी तथा हिंसा आदि पाप करते हैं तो मैं तो यही समझता हूँ कि उस धनका आपको न मिलना ही अच्छा था। भगवदर्थ लगाकर धनसे आप अपना कल्याण भी कर सकते हैं और कुकर्ममें लगाकर पतन भी।

इसी तरह आपको जो दण्ड मिला, उससे आपके पापका क्षय हो गया, आप पापके भारसे हल्के हो गये और उस दण्ड मिलनेके

साथ ही आपके हृदयमें यदि यह भाव आया कि 'मैंने पाप किया था, उसका भगवान्‌ने आज मुझे यह दण्ड दिया, अतः भविष्यमें मैं पाप नहीं करूँगा। जो पाप नहीं करेगा उसे दण्ड क्यों मिलेगा। पापका फल ही तो दुःख है न।' तो यह आपको श्रेष्ठ शिक्षा मिली। धन मिलनेसे तो अहंकार, पाप, प्रमाद, अकर्मण्यता और भोग-विलास आदि बढ़ते हैं, किंतु जब धन नष्ट होता है और मार पड़ती है, तब भगवान् याद आते हैं। इसलिये उसमें विशेष दया समझनी चाहिये।

अब अनिच्छासे होनेवाले हानि-लाभको समझिये। अनिच्छा उसे कहते हैं कि जिसमें आपकी या दूसरे किसीकी भी इच्छा न रही हो। अतः वह भगवान्‌की इच्छा है। इसे यों देखें—जो रोग होता है, वह अनिच्छासे प्राप्त प्रारब्धका फल है। बीमारीके लिये किसीकी इच्छा नहीं होती, फिर भी बीमारी हो गयी तो उसमें ईश्वरकी इच्छा समझे या अनिच्छा-प्रारब्धका भोग समझे। इसी प्रकार और कोई स्वाभाविक घटना हो जाती है; जैसे हमारा मकान-जल गया, पेड़की डाल अकस्मात् टूट पड़ी और लड़का मर गया तो वह अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है। यह पापका फल है। इसी तरह अनिच्छासे पुण्यका फल प्राप्त होता है; जैसे जमीनके, घरके या चीजोंके दाम बढ़ गये अथवा कहीं गड़ा हुआ धन मिल गया तो इसमें दूसरे किसीकी इच्छा नहीं है। ईश्वरकी इच्छासे अपने-आप ही पुण्यका फल प्राप्त हो गया। सुख पुण्यका फल है और दुःख पापका फल है।

कुछ पुण्य-पापोंका फल स्वेच्छासे प्राप्त होता है, उनको देखिये। हम स्वेच्छासे व्यापार करते हैं, उसमें मुनाफा भी होता है, नुकसान

भी। मुनाफा पुण्यका फल है और नुकसान पापका। परेच्छा, अनिच्छा, स्वेच्छा—इन तीन प्रकारकी इच्छाओंसे प्रारब्ध कर्मोंका भोग होता है। स्वेच्छापूर्वक हम जो काम करते हैं, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करना चाहिये। यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारे भाग्यमें जितना मिलना है, उतना ही धन हमें मिलेगा, अधिक नहीं मिलेगा। भगवान्‌के विधानसे अधिक मिल नहीं सकता। हम पाप नहीं करेंगे तो भी भगवान् छप्पर तोड़कर हमें दे जायँगे। इसलिये हमें झूठ-कपट-चोरी आदि पाप कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि हमारे भाग्यमें जो होगा वह कहीं नहीं जायगा। अतः भगवान्‌पर और प्रारब्धपर विश्वास करना चाहिये। जिसको ईश्वरपर और भाग्यपर विश्वास होता है, वह कभी झूठ नहीं बोलता। रुपयोंके लिये क्या, प्राणके लिये भी झूठ नहीं बोलता। आप लाभके समय यानी अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो लाभ होता है उसमें ईश्वरकी दया समझते हैं सो तो ठीक है, वह भी दया है। किंतु अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो हानि प्रतीत होती है, उसमें ईश्वरकी विशेष दया समझनी चाहिये।

परमेश्वरने हमको मनुष्यका शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि केवल आत्माके कल्याणके लिये ही दिये हैं। यदि हम उनका उपयोग ठीक नहीं करते हैं या उसके विपरीत करते हैं तो हम अपने आपको धोखा देते हैं। अर्थात् जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर और धनादि पदार्थ आपको दिये गये हैं, उनको उसी काममें लगाना चाहिये। नहीं लगाते हैं तो आप अपनेको धोखा देते हैं। एक भाई आपको दो हजार रुपये इसलिये दे गया कि इन रुपयोंसे

कपड़ा खरीदकर आप साधुओंको बाँट दें। आपने उन रुपयोंसे साधुओंको कपड़ा तो नहीं बाँटा, किंतु वे रुपये आपने अपनी लड़की, दामाद या भानजेको दे दिये तो आपने यह उस धनीको धोखा दिया। साधुओंकी सेवामें न लगाकर गायोंकी सेवामें लगा दिया, तब भी आपने एक प्रकारसे अनुचित किया। क्यों अनुचित किया? इसलिये कि वे तो कह गये थे कि साधुओंकी सेवामें लगाओ और आपने पशुओंकी सेवामें लगा दिया तो यह भी ठीक नहीं किया और बेटी-दामादके स्वार्थमें रुपये लगा दिये; तब तो बड़ा भारी अन्याय किया। इसी प्रकार भगवान्‌ने जो हमें धन दिया, चीजें दीं, अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भक्तिके लिये, उन्हें उस काममें न लगाकर ऐश, आराम, भोगमें लगाते हैं तो हम चोरी करते हैं। देवतालोग हमलोगोंको वर्षाके द्वारा जल-अन्न आदि देते हैं, उन्हें देवताओंको दिये बिना अर्थात् उनकी पूजा, यज्ञ-होम आदि किये बिना हम ऐश-आरामादि भोगोंमें लगाते हैं तो हम चोर हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।' (३। १२ का उत्तरार्ध)—'देवताओंका दिया हुआ देवताओंको बिना दिये जो भोग करता है, वह चोर है।' माता-पिता पुत्रके लिये बहुत-सा धन छोड़कर मर गये; इस उद्देश्यसे कि यह मरनेके बाद हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण करेगा, किंतु जो नालायक लड़का माता-पिताके मरनेके बाद उनका श्राद्ध-तर्पण नहीं करता है, उसे उनकी आत्मा दुराशिष देती है कि हम इतना धन छोड़कर आये, किंतु यह नालायक सौ रुपयेमें एक रुपया भी हमारे काममें नहीं लगाता। यह माता-पिताकी चोरी है। उनके उद्देश्यके अनुकूल काममें धन न लगाना ही चोरी

है। वे तो लाचार हैं; अब कर ही क्या सकते हैं? तुम्हारी इच्छा है, तुम जो चाहो करो; किंतु उनकी इच्छाके विपरीत करना विश्वासघात है। कोई हमारे पास गहना रख जाय, फिर वह आवे और हम उसे न दें तो यह विश्वासघात है। इसी प्रकार माता-पिताका हक यदि हम नहीं देते तथा देवताओंको उनका हक नहीं देते तो हम विश्वासघात करते हैं।

जिस प्रकार हम माता-पिताका दिया हुआ माता-पिताको बिना दिये, बिना श्राद्ध-तर्पण किये भोगते हैं तो हम माता-पिताके चोर हैं; इसी प्रकार भगवान्‌के दिये हुए पदार्थोंको भगवान्‌के लिये भगवान्‌की भक्ति आदि साधनोंमें नहीं लगाते हैं तो हम भगवान्‌के चोर हैं। हमें मनुष्य-शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी वर्तमानमें प्राप्त है, उसको भगवान्‌के काममें लगाना चाहिये। अर्थात् भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही हमें सब काम करने चाहिये। अतएव जो कुछ करें, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करें और भगवान्‌के विधानके अनुसार जो कुछ सुख-दुःख, लाभ-हानि आकर प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर प्रसन्न हों। माँ हाथसे मारती है तो भी समझदार लड़का यही समझता है कि 'इसमें माँकी कृपा है, मेरा स्वभाव सुधारनेके लिये मुझे मारती है।' इसी प्रकार भगवान् कभी मारें भी तो भक्तको यही समझना चाहिये कि भगवान्‌की कृपा है, भगवान् हमारे सुधारके लिये ऐसा करते हैं। मारका मतलब है कि जिसे हम अनिष्ट समझते हैं, वैसा फल मिलना। जैसे लड़का मर गया, धन चला गया, चोरी हो गयी; इसी प्रकार अन्य जो हानि होती है, वहभगवान्‌के हाथकी मार है।

इसमें भगवान्‌की विशेष दया भरी हुई है। यह रहस्य हमारी समझमें आ जाय तो फिर हमारे लिये सर्वदा सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है। अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो सभीको आनन्द होता है, किंतु प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें भी हर समय भगवान्‌की दयाका दर्शन करना चाहिये। जैसे छोटा बच्चा माँपर निर्भर रहता है; किसी छः महीनेके लड़केको उठाकर माँ गङ्गामें फेंक आवे तो वह क्या कर सकता है, वह बिल्कुल माँपर निर्भर है, माँ मारे, चाहे पुचकारे; इसी प्रकार हम अपनेको एकमात्र भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् एक उन्हींपर निर्भर हो जायँ कि भगवान् हमें मारें चाहे तारें, हमारा सब प्रकारसे मङ्गल-ही-मङ्गल है। जब दयालु माँ भी अपने बच्चेका कभी कोई अनिष्ट नहीं कर सकती, तब परम दयालु भगवान् क्या कभी कर सकते हैं। जब कभी बच्चेको फोड़ा या व्रण हो जाता है, तब माँ डाक्टरको बुलाकर चिरा देती है। लड़का रोता है, पर माँ उसके रोनेकी परवा न करके बलात् चिरा देती है; क्योंकि माँ उसे भीषण व्रणके विषसे मुक्त करके सर्वथा नीरोग तथा सुखी देखना चाहती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमारे हितके लिये ही, हम जिसे दुःख समझते हैं, उसे दे रहे हैं। उस दुःखमें भी हमको विश्वासपूर्वक खूब आनन्द मानना चाहिये अर्थात् वह बात हमारी समझमें नहीं भी आवे तो भी इतना विश्वास अवश्य कर लें कि जो कुछ भी भगवान्‌की मर्जीसे हो रहा है, उसमें आनन्द-ही-आनन्द है।

एक बात तो पहले यह कही गयी थी कि हमारे द्वारा जो भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय होता है, उससे हमको अवश्य विशेष लाभ होता है अर्थात् उससे निश्चय ही सद्‌गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होती

है। सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य ही होता है। प्रतिदिन अपने हृदयमें उन्नतिको देखते रहना चाहिये। इस प्रकार देखनेसे वह प्रत्यक्ष दीख सकती है और उससे उत्साह बढ़ सकता है। जैसे व्यापार करनेवालेके प्रतिदिन रुपये पैदा हों, आज सौ बढ़े, कल दो सौ, परसों तीन सौ बढ़े तो यह देखकर उसे नित्य नयी-नयी प्रसन्नता होती है, दिनोंदिन उत्साह बढ़ता जाता है; इसी प्रकार यह जो परमात्माकी प्राप्तिके विषयका व्यापार है, इसको दिन-प्रतिदिन देखते रहेंगे तो उत्तरोत्तर प्रसन्नता बढ़ती जायगी। इस तरह आपको दिन-प्रतिदिन उन्नतिका अनुभव करना चाहिये। दिनमें भी प्रतिक्षण उन्नतिका अनुभव करे। पहले क्षणमें जो कुछ करे, उसके अगले क्षणमें साधन तेज होना चाहिये। कम क्या हो? साधन कमजोर हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे भविष्यमें ऐसी भूल न होने पावे। जब भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, उनकी अपार दया है, तब फिर हमारी तो उत्तरोत्तर उन्नति अवश्य ही होनी चाहिये और फिर उस उन्नतिके फलको भी देखते रहना चाहिये। वह फल यह कि दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश और सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि। इस प्रकार प्रतिक्षण देखनेपर आपको प्रत्यक्ष ही लाभ दिखायी दे सकता है।

दूसरी बात यह कि सुख-दुःखकी प्राप्तिमें तथा लाभ-हानिकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझनी चाहिये। जो भी कुछ घटना हो रही है, उस सबमें ईश्वरकी दया ही भरी है अर्थात् उस सबमें दयाका दर्शन करना चाहिये। भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जानेपर, उनके शरण हो जानेपर मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि भाव

अपने-आप आ जाते हैं। यह समझ ले कि 'मैं भगवान्‌के शरण हूँ, मुझे किस बातकी चिन्ता है, मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' जिस प्रबल पराक्रमी न्यायकारी तथा दयापरायण किसी राजाके राज्यमें कोई मनुष्य राजाकी शरण ले लेता है, राजापर ही निर्भर हो जाता है और राजा उसको आश्रय दे देता है तो फिर वह निर्भर और निश्चिन्त हो जाता है। उसके मनमें यह भाव होता है कि राजाकी मुझपर विशेष दया है, मुझे इस राजाके राज्यमें क्या भय है? इसी प्रकार भगवान्‌पर निर्भर करनेवाला भी निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

जब नचिकेता यमराजके पास गया और दो वर प्राप्त कर चुका, तब यमराजने कहा—'तुमने दो वर तो माँग लिये, अब तीसरा वर अपने इच्छानुसार और माँग लो।' उसने कहा—'मैं यही वर माँगता हूँ कि मरनेके बाद आत्मा है या नहीं, यह बतलाइये।' यमराज बोले—'इस बातको छोड़कर और कोई वर माँग लो; क्योंकि यह देवताओंके लिये भी दुर्विज्ञेय है। तुम इच्छानुसार सदाके लिये जीवन माँग लो अथवा इन रथ और बाजोंसहित स्त्रियोंको ले जाओ या और कोई स्वर्गके भोग-पदार्थ ले जाओ जो पृथ्वीपर नहीं हैं।' इसके उत्तरमें नचिकेताने कहा—'आप ये वाहन, नाच-गान तथा भोग आदि अपने ही पास रक्खें। मेरा वर तो वही है कि जिससे आत्माका ज्ञान हो जाय। आपने जो यह कहा कि सदाके लिये जीवन माँग लो सो जबतक आपका शासन है, तबतक मुझे मृत्युका भय ही क्या है!' (कठ० उप० १।१।१९–२७)।

इसी प्रकार जब यह समझ लिया कि भगवान्‌का हमारे सिरपर

हाथ है, तब फिर भय ही किस बातका है। यमराजकी कृपा होनेपर भी कोई भय नहीं है तो फिर भगवान्‌की कृपा हो जाय तब तो बात ही क्या है। वे तो यमराजके भी यमराज हैं, मृत्युके भी मृत्यु और कालके भी काल हैं। फिर हमें भय किस बातका? इस प्रकार हम अपनेको भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। जैसे बिल्लीका बच्चा बिल्लीपर ही निर्भर है, बिल्ली उसे इच्छानुसार मुँहमें लिये फिरती है, उसी मुखमें वह चूहेको पकड़ती है, उसीमें अपने बच्चेको; वही दाँत, वही मुँह है; पर अपने बच्चेको कितने प्रेमसे पकड़ती है, जरा भी कष्ट नहीं देती; वैसे ही हम भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। फिर हमें भय ही किस बातका है। यह सोचकर हमें भगवान्‌पर निर्भर हो जाना चाहिये, जैसे भक्त प्रह्लाद भगवान्‌पर निर्भर थे। हिरण्यकशिपु जो कुछ भी अत्याचार करता था, प्रह्लादको किसी बातकी चिन्ता नहीं रहती थी, वह भगवान्‌पर ही निर्भर था। भगवान् जो कुछ इच्छा हो, करें, किंतु क्या कोई उसका बाल भी बाँका कर सका? नहीं कर सका। किसी कविने कहा भी है—

जाको राखे साँइयाँ, मार सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग वैरी होय॥

मनुष्यकी तो बात ही क्या, सारा संसार भी उसका वैरी हो जाय तब भी कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकता। अतः यह समझना चाहिये कि जब हम भगवान्‌पर निर्भर हैं, तब हमें भय किस बातका है, अतएव हमें भगवान्‌पर ही निर्भर रहना चाहिये।

मैं आपको फिर सावधान करके यह कहना चाहता हूँ। जप,

ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायके समय एक तो यह निश्चय रखना चाहिये कि इनसे हमें अवश्य लाभ होगा तथा उसकी ओर हर समय देखते रहना चाहिये कि हमें लाभ हो रहा है न। लाभको बराबर होते हुए देखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इससे सद्गुण-सदाचार आनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचार भाग जाते हैं न। साथ ही ईश्वरकी दया, ईश्वरका प्रेम, ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये तथा ईश्वरके स्वरूपको देख-देखकर और ईश्वरकी दया और प्रेमको देख-देखकर हर समय हँसते रहना चाहिये, प्रमुदित होते रहना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करनेसे आपको प्रत्यक्ष लाभ हो सकता है। यह आप करके देख लें, यह आजमाइश की हुई बात है।

इसके सिवा और भी एक रहस्यकी बात बतायी जाती है। आप ऐसी धारणा करें कि मानो भगवान् आकाशमें विराजमान हो रहे हैं और हम मनसे उनका दर्शन कर रहे हैं। भगवान् गुणोंके सागर हैं और बादल जैसे जलकी वर्षा करता है तथा चन्द्रमा जैसे अमृतकी वर्षा करता है, इसी प्रकार भगवान् आकाशमें स्थित होकर अपने गुणोंकी वर्षा कर रहे हैं। दया, क्षमा, शान्ति, आनन्द, समता, प्रेम, ज्ञान, वैराग्यकी अनवरत हमपर वर्षा हो रही है। जलकी जो वर्षा होती है, उसका तो आकार होता है, किंतु यह निराकार है। जैसे चन्द्रमाकी रश्मियोंसे जो अमृतकी वर्षा होती है, वह निराकार है, जैसे सूर्यका धूप निराकार है, सूर्यके धूपसे शीतकालमें धूपमें बैठनेसे शीतका निवारण हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌के प्रभाव और गुणोंके समूहसे दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश होकर सद्गुण-

सदाचारोंका विकास हो जाता है । भगवान् हमलोगोंपर अपने गुणोंका प्रभाव डाल रहे हैं, यह समझकर हर समय हँसता रहे, प्रसन्न होता रहे । हर समय जो प्रसन्नता और आनन्द है, यह सब भगवान्से ही है । भगवान् हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें—शरीरके रोम-रोममें सब जगह शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता, ज्ञान, चेतनता उत्तरोत्तर खूब बढ़ा रहे हैं । इस प्रकार हम मनमें धारणा करें और मनसे परमात्माका ध्यान करें । परमात्माके ध्यानसे हमको प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है, उसका हम अनुभव करें तो हमें प्रत्यक्ष लाभ प्रतीत हो सकता है ।

इससे भी बढ़कर एक बात और है—जैसे कोई नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है तो उसे यह नाना प्रकारका रंग-बिरंगा संसार हरा-ही-हरा दीखने लग जाता है, यह चश्मा तो चढ़ता है नेत्रोंपर, ऐसे ही भगवद्भावका चश्मा चढ़ाना चाहिये बुद्धिपर । जैसे आँखोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ानेसे सारा संसार हरा-ही-हरा दीखता है, उसी प्रकार बुद्धिपर हरिके रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सर्वत्र हरि-ही-हरि दीख सकते हैं ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

हम जो दृश्य पदार्थोंको संसारके रूपमें देख रहे हैं, उसे भगवान्के रूपमें देखने लगें तो यह संसार हमको भगवान्के रूपमें ही दीख सकता है तथा चेष्टामात्रको भगवान्की लीला समझ लेनेपर वह सब चेष्टामात्र भगवान्की लीलाके रूपमें दीख सकती है। फिर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो जो कुछ चेष्टा हो रही है, वह साक्षात् भगवान्की लीला हो रही है और वह लीला स्वयं भगवान् नाना रूप धारण करके कर रहे हैं। ऐसा समझ लेनेपर हमें हर समय प्रसन्नताका अनुभव हो सकता है; क्योंकि ये जितने भी मनुष्य हैं, सब भगवान्के परिकर हैं यानी भगवान्के साथ आये हुए हैं। भगवान् ही इनमें छिपकर क्रीडा कर रहे हैं। हम भी इनमें शामिल हैं। हम सब मिलकर ही भगवान्के साथ क्रीडा कर रहे हैं। भगवान्की लीला हो रही है, ऐसा भाव हम धारण करें। जिस प्रकार गोपियोंको भगवान्के साथ गाने-बजाने और नाचनेमें प्रसन्नता होती थी, वैसी प्रसन्नता हमें भी हो सकती है। फिर चिन्ता, शोक, भय हमारे पास भी नहीं आ सकते। ऐसा आप अभ्यास करके देख लें। आपको इसमें प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिल सकता है, प्रत्यक्ष आपकी उन्नति हो सकती है। जैसे दूधमें उफान आता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष उन्नति देखनेमें आ सकती है। दूधके उफानमें तो पोल है, ऊपर-ऊपर तो उफान है, भीतरमें कुछ नहीं, थोड़ी देरमें दूधका उफान आकर दूध भी समाप्त हो जाता है; पर यह तो इस प्रकारकी उन्नति है कि वास्तवमें भीतरसे ठोस है, नित्य है और उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जिससे प्रत्यक्ष जीवन बदल जाता है।



भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे या यों कहिये कि साक्षात् पूर्ण ब्रह्म ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं। उनके दिव्य गुण, प्रभाव और लीलाओंकी आश्चर्यमयी उपदेशप्रद मधुर लीलाओंसे हमारे प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं। श्रीमद्भागवत, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध और अन्यान्य पुराण आदिमें भगवान्के प्रेम, प्रभाव और ऐश्वर्यकी अलौकिक बातें स्थान-स्थानपर प्रसिद्ध हैं। जन्मते ही चतुर्भुजरूपसे प्रकट होकर फिर छोटे बालक बन जाना, यशोदा मैयाको मुखके अंदर ब्रह्माण्ड दिखलाना, गोप-बालक और बछड़ोंकी नवीन सृष्टि करना, अक्रूरजीको मार्ग और जलके अंदर एक ही साथ दोनों जगह एक ही रूपमें दर्शन देना, कंस आदि महान् असुरोंका लीलामात्रसे विनाश कर देना, गुरु, ब्राह्मण और देवकीजीके मृत पुत्रोंको ला देना, विविध रूपोंसे एक ही साथ सम्पूर्ण रानियोंके महलोंमें निवास करना, द्रौपदीके स्मरण करते ही उसका चीर बढ़ा देना, दुर्वासाजीके आतिथ्यके समय संकटापन्न

द्रौपदीके स्मरण करते ही अचानक वहाँ प्रकट हो जाना, कौरवोंकी सभामें विराट् रूप दिखाना, प्रिय भक्त अर्जुनको भक्ति और ज्ञानका रहस्य समझाते हुए उसे विश्वरूप और चतुर्भुजरूपसे दर्शन देना, अर्जुनकी रक्षाके लिये जयद्रथवधके समय सूर्यको अस्त दिखाकर फिर सूर्यको प्रकट कर देना, युद्धके अन्तमें अर्जुनको पहले रथसे नीचे उतारकर फिर स्वयं उतरते ही रथका जलकर भस्म होते दिखलाना और यह कहना कि यह रथ तो भीष्म-द्रोणादिके बाणोंसे पहले ही दग्ध हो चुका था, परंतु मैंने अपने संकल्पसे इसे टिका रक्खा था, शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मकी सारी पीड़ाओंको हरकर उन्हें अतुल बल, तेज और ज्ञान प्रदान करना, ऋषि उत्तङ्कको अपना अलौकिक प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखलाना, मृत परीक्षित्को जीवित करना, अश्वमेध-यज्ञके समय पाण्डवोंके स्मरण करते ही द्वारकासे अचानक रातके समय आ जाना, सुधन्वासे लड़ते हुए अर्जुनके द्वारा याद करनेपर तुरंत उपस्थित होकर रथकी लगाम हाथमें ले लेना और शरीरसहित ही परमधाम पधारना आदि अनेकों अद्भुत कर्मोंकी कथाओंके पढ़नेसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ऐसे कर्म मनुष्यके लिये तो असम्भव हैं ही, देवताओं और योगियोंकी शक्तिसे भी अतीत हैं। इस छोटे-से लेखमें अति संक्षेपके साथ भगवान्के कुछ अद्भुत कर्मोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रेम और आनन्दकी तो मूर्ति ही थे। उनका अवतार प्रेम और धर्मके संस्थापन और प्रचारके लिये ही हुआ था। भगवान्ने विशुद्ध प्रेमका जो विशाल प्रवाह बहा दिया

उसे एक बार समझ लेनेपर ऐसा कौन है जिसका हृदय द्रवित और आनन्दसे पुलकित न हो जाय। परंतु उनकी प्रेममयी लीला और उनके गहन प्रेमके तत्त्वका ज्ञान उनके अनुग्रहसे ही हो सकता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें गोपियोंके साथ भगवान्‌के प्रेमके व्यवहारका जो वर्णन आता है, उसे पढ़नेपर मनुष्यके हृदयमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं। अक्षरोंके अर्थसे तो उस प्रेममें विषयविकार ही टपकता है, परंतु यह प्रसङ्ग विचारणीय है। यदि गोपियोंके साथ भगवान्‌का विषयजन्य अनुचित प्रेम होता तो उद्धव-सरीखे महात्मा और गौराङ्ग महाप्रभु-सदृश त्यागी भक्त और संतजन उसकी कभी प्रशंसा नहीं करते। गोपियोंका प्रेम मूर्खतापूर्ण नहीं था, वे श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती थीं। स्वयं गोपियोंके वाक्य हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

'हे सखे! ब्रह्माकी प्रार्थनापर आपने विश्वके पालनके लिये सात्वत (यदु) कुलमें अवतार लिया है। आप केवल यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं, वास्तवमें आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं।' इससे सिद्ध होता है कि उनका प्रेम विशुद्ध और ज्ञान-पूर्ण था। उनके प्रेमकी सभी संत पुरुषोंने सराहना की है। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी उनके प्रेमकी महिमा गायी है और अर्जुनसे कहा है कि—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम् ॥
(आदिपुराण)

'हे पार्थ ! जो गोपियाँ अपने शरीरकी 'मेरा (कृष्णका) है, ऐसा समझकर ही सँभाल रखती हैं, उनसे बढ़कर मेरे निगूढ़ प्रेमका पात्र और कोई नहीं है ।'

इसके अतिरिक्त भगवान् स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें तो विषय-विकारकी आशङ्का ही नहीं की जा सकती । कोई यह पूछे कि फिर भागवत आदि पुराणोंमें वर्णित वैषयिक प्रसङ्गोंका क्या अर्थ है ? मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार तो इसका यही उत्तर है कि उन शब्दोंका मतलब समझनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; इतिहास, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थोंमें जहाँ-कहीं भी ईश्वरपर झूठ, कपट, व्यभिचार आदि दोषोंका आरोप प्रतीत हो और मद्य, मांस आदिके सेवन तथा असत्य, दम्भ, व्यभिचार आदि दोषोंका विधान मिले, उन पंक्तियोंको छोड़कर ही शेष सदुपदेशको ग्रहण करना और तदनुसार आचरण करना चाहिये ।

संसार परिवर्तनशील है । देश, काल, वस्तु आदिका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है । पुरानी घटनाओंमें समयका बहुत व्यवधान पड़ जानेके कारण समयके परिवर्तनसे शास्त्रोंके वर्णनकी सारी बातोंका पूरा मतलब ठीक-ठीक समझमें नहीं आता । इसके सिवा दीर्घकालतक देशपर विधर्मियोंका आधिपत्य रहनेके कारण हमारे शास्त्रोंमें धर्मके विपरीत झूठ, कपट, चोरी आदि कुभाव घुसेड़ दिये गये हों

तो भी कोई आश्चर्य नहीं है । अतएव पुराणोंकी सभी बातोंको अक्षरशः समझाने और उनकी पूर्वापर पूरी शृङ्खला बैठाकर उन्हें मिथ्या या सत्य सिद्ध करनेका दायित्व हम साधारण लोगोंको अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये; क्योंकि हमलोग सर्वज्ञ नहीं हैं । इसके सिवा भगवान् संसारमें अवतार ग्रहण करके जो लीला करते हैं, उनमें कहीं शास्त्रकी मर्यादाके विपरीत दोषका आभास दिखलायी दे तो इस विषयमें मनमें यही निश्चय रखना चाहिये कि भगवान्में कोई दोष कभी हो नहीं सकता । भगवान् और उनके कर्म सर्वथा दिव्य हैं । साथ ही पुराण-इतिहास आदिको भी असत्य नहीं कहा जा सकता ।

भगवान्के लीलामय दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य सम्पूर्णरूपसे तो देवता और महर्षियोंकी भी समझमें नहीं आ सकता । भगवान्ने स्वयं ही कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
(गीता १० । २)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूतिसहित लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ ।' यद्यपि इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंके रचयिता ऋषि-तत्त्वको जाननेवाले सिद्ध महापुरुष और योगी थे, तथापि वे भी भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीला और उनके प्रभावको सम्पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें असमर्थ थे । फिर भी उन महात्माओंने कृपा-परवश हो जो कुछ

लिखा है सो सत्य ही है। अल्पबुद्धि होनेके कारण हमलोग उनके भावोंको ठीक-ठीक समझ नहीं सकते और अपनी अल्पज्ञताका दोष उन महात्माओंके मत्थे मढ़ते हैं।

महाभारत आदिसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि अवताररूपमें प्रकट हुए भगवान्‌को सब ऋषिगण नहीं पहचान सकते थे। उनमेंसे कोई-कोई तत्त्ववेत्ता महात्मा महर्षि ही भगवान्‌की कृपासे उनको जानते थे। श्रीरामचरितमानसमें भी यह बात आती है—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० १२६। २)

क्योंकि भगवान् जिस शरीरमें जन्म ग्रहण करते हैं, उसी शरीरके समान सब चेष्टा करते हैं। जब भगवान् मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होते हैं तब मनुष्यके अनुसार चेष्टा करते हैं। उस समय उनके मनुष्योचित कर्मोंको देखकर मुनिगणोंको भी भ्रम हो जाता है, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? श्रीवसिष्ठजीने कहा है—

देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदयँ अपारा॥
(रा० च० मा०, उत्तर० ४७। २)

महाभारतके आश्वमेधिकपर्वके ५३वें अध्यायमें कथा है कि कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी समाप्तिके बाद युधिष्ठिर महाराजसे आज्ञा लेकर भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे जा रहे थे। मार्गमें मरुस्थलमें निवास करनेवाले गुरु भक्त तपस्वी ऋषि उत्तङ्कसे उनकी भेंट हुई। पाँच पाण्डवोंके सिवा अन्य सारे कौरवोंके विनाशकी बात भगवान्

श्रीकृष्णके मुखसे सुनकर ऋषि उत्तङ्कको बड़ा क्रोध आ गया और वे उनसे बोले कि 'आपने सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होनेपर भी युद्धका निवारण नहीं किया, इसलिये मैं आपको शाप दूँगा।' भगवान् बड़े दयालु थे, उन्होंने मुनिको शाप देनेसे रोककर कहा कि 'हे तपस्विश्रेष्ठ! तुमने अपने गुरुको सेवा करके प्रसन्न किया है, जिससे तुम्हारे तपका बड़ा तेज है, मैं उस तपका नाश कराना नहीं चाहता, मुझपर तुम्हारे शापका कोई असर नहीं होगा, शाप देनेसे तुम्हारे तपका नाश हो जायगा। इसलिये तुम मेरे अध्यात्म-विषयक आत्मतत्त्व और प्रभावकी बातें सुनो।' तदनन्तर ५४वें अध्यायमें ऋषि उत्तङ्कके पूछनेपर भगवान्ने अपने अवतार लेनेका कारण तथा प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया—

वह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्त्तामि सत्तम।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥ १३॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः॥ १४॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च।
अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः॥ १५॥
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया॥ १६॥

'हे द्विजवर भार्गव! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापना करनेके लिये बहुत-सी योनियोंमें उन-उन योनियोंके वेष और रूपोंसे युक्त हुआ तीनों लोकोंमें अवतार धारण करता हूँ। मैं ही विष्णु, ब्रह्मा

और इन्द्र हूँ। मैं ही उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ तथा सकल भूत-समुदायका रचनेवाला और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं अच्युत परमात्मा परिवर्तनशील युगोंमें प्रजाके हितकी कामनासे भिन्न-भिन्न योनियोंमें प्रवेश करके अधर्ममें बर्तनेवाले समस्त प्राणियोंके लिये धर्मकी मर्यादाको दृढ करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्त्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत्सर्वमाचरामि न संशयः॥ १७॥

'हे भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब निःसंदेह देवताओंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्त्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत्सर्वमाचरामि न संशयः॥ १८॥

'हे भार्गव! जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब निःसंदेह गन्धर्वोंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्त्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद्विचराम्यहम्॥ १९॥

'जब मैं नागयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब नागों-जैसा बर्ताव करता हूँ और जब यक्ष-राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होता हूँ, तब उन्हींके अनुरूप आचरण करता हूँ।'

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम्॥ २०॥

'इस समय मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होकर मनुष्य-जैसा आचरण

करते हुए मैंने कौरवोंसे संधिके लिये दीनतापूर्वक प्रार्थना की; परंतु मोहग्रस्त होनेके कारण उन्होंने मेरी हितकर बात नहीं मानी।'

इस प्रकार भगवान्के प्रभाव और स्वरूपकी बात सुनकर ऋषिको भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् परमात्मा होनेका पूर्ण विश्वास हो गया और ऋषिने विनीतभावसे भगवान्से विश्वरूपदर्शन करानेके लिये प्रार्थना की। ऋषिकी प्रार्थनापर भगवान्ने अनुग्रह करके उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे देखकर उत्तङ्क ऋषि भगवान्की स्तुति करने लगे। तदनन्तर ऋषिको वरदान देकर भगवान् द्वारिकापुरीको पधार गये।

ऋषि उत्तङ्कके इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्की कृपा बिना यज्ञ, दान, तप और गुरु-सेवन आदि करनेवाले तपस्वी ऋषि भी भगवान्के अवतार-विग्रहको पहचान नहीं सकते। भगवान् दया करके जिसको अपना परिचय देते हैं, वे ही उन्हें पहचान सकते हैं और फिर उनकी कृपासे तद्रूप हो जाते हैं।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १६२। २)

जबतक भगवान् स्वयं दया करके अपनेको नहीं जनाते, तब-तक दूसरेके द्वारा जनाये जानेपर भी भगवान्को नहीं जाना जा सकता। संजयके बहुत कुछ समझाने और प्रभाव बतलानेपर भी धृतराष्ट्रने भगवान्को नहीं जाना। महाभारत उद्योगपर्वके ६८वें अध्यायमें कथा है—संजय दूत बनकर पाण्डवोंके पास जाते हैं और वहाँसे लौटकर भगवान् वेदव्यासजीकी आज्ञासे भगवान्

श्रीकृष्णके प्रभाव और ईश्वर-सम्बन्धी तत्त्वका वर्णन करते हैं—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

'जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है, जहाँ सरलता है वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहीं जय है।'

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः॥ १०॥

'सब प्राणियोंके आत्मस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल करते हुए-से पृथिवी, अन्तरिक्ष और देवलोकको चेष्टायुक्त कर रहे हैं।'

स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान्॥ ११॥

'वे ही भगवान्, लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंको निमित्त बनाकर अधर्मनिरत तुम्हारे मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं।'

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥ १२॥

'भगवान् केशव कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्रको अपनी योगशक्तिसे निरन्तर घुमाते हैं।'

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ १३॥

'मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि वे भगवान् श्रीकृष्ण अकेले ही काल, मृत्यु और चराचर समस्त जगत्का शासन करते हैं।'

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः॥ १४॥

'महायोगी श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्का शासन करते हुए ही धन-धान्यादिकी वृद्धि करनेवाले किसानकी तरह कर्मोंका आरम्भ करते हैं।'

तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः॥ ५॥

'भगवान् केशव उस अपनी योगमायासे मनुष्योंको मोहित किये रहते हैं। जो मनुष्य केवल उन्हींकी शरणमें चले जाते हैं, वे उनकी मायासे मोहित नहीं होते।'

यह सुनकर धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं कि 'माधव श्रीकृष्ण सब लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तू कैसे जानता है और मैं उन्हें क्यों नहीं जानता?' संजय कहते हैं, 'हे राजन्! जिनका ज्ञान अज्ञानके द्वारा ढँका हुआ है, वे भगवान् श्रीकृष्णको नहीं जान सकते। आपमें वह ज्ञान नहीं है, इसलिये आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ।' तदनन्तर उद्योगपर्वके ७०वें अध्यायमें फिर धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा कि 'हे संजय! श्रीकृष्णके विषयमें मैं तुझसे पूछता हूँ, तू मुझे कमलनयन श्रीकृष्णकी कथा सुना, जिससे मैं श्रीकृष्णके नाम और चरित्रोंको जानकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त होऊँ।' इसके बाद संजयने श्रीकृष्णके नाम, गुण और प्रभावका अनेक श्लोकोंमें वर्णन किया तो भी धृतराष्ट्र भगवान् श्रीकृष्णको भलीभाँति नहीं पहचान सके। इससे यह बात सिद्ध होती है कि

जिसपर भगवान्की दया होती है, वही भगवान्को पहचान सकता है।

भगवान्की प्रत्येक क्रियामें विलक्षण भाव भरा है। वे सर्व-शक्तिसम्पन्न, बुद्धिके सागर और बड़े ही कुशल थे। उनकी कोई भी क्रिया या उनका एक भी संकल्प कभी निष्फल नहीं होता था। कहीं उनकी कोई चेष्टा निष्फल हुई है तो वह उनकी इच्छासे ही हुई है। उस निष्फलतामें बड़ा रहस्य भरा रहता है। भगवान् पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये और उनके संधिरूप कार्यकी सिद्धि नहीं हुई, इसमें यही कारण है कि उनकी संधि करानेकी इच्छा ही नहीं थी। यह बात दूत बनकर जाते समय द्रौपदीके साथ उनकी जो बातचीत हुई है, उससे स्पष्ट सिद्ध है। द्रौपदी उस समय अनेक विलाप करती हुई भगवान्से प्रार्थना करती है—

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी॥
आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम्॥
सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः॥
साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव॥

(महा० उद्योग० ८२। २१–२४)

'हे कृष्ण! यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई राजा द्रुपदकी पुत्री, धृष्ट-द्युम्नकी बहिन, आपकी प्यारी सखी, आजमीढकुलमें ब्याही गयी महात्मा पाण्डुकी पुत्रव , इन्द्रके समान तेजस्वी पाँच पाण्डुपुत्रोंकी

महारानी, उन पाँच वीरोंसे उत्पन्न पाँच महारथी पुत्रों (जो कि धर्मके नाते अभिमन्युके समान ही आपको प्रिय हैं) की माता ऐसी मैं पाण्डुपुत्रोंके देखते हुए और हे केशव ! आपके जीवित रहते हुए केश पकड़कर सभामें लायी गयी और दुःखित की गयी थी ।'

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेष्वथ वृष्णिषु ।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥ २५ ॥

'पाण्डुपुत्रोंके, पाञ्चालोंके और वृष्णियोंके जीवित रहते हुए भी पापियोंकी सभामें लायी जाकर मैं दासी बना ली गयी थी ।'

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु ।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे ॥ २६ ॥

'यह सब देखते हुए भी पाण्डव जब क्रोधरहित और निश्चेष्ट ही बने रहे तब 'हे गोविन्द ! मेरी रक्षा करो' ऐसा मैंने मनसे चिन्तन किया था ।'

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः ।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता ॥ ३६ ॥

'हे पुण्डरीकाक्ष ! शत्रुओंके साथ संधि करते समय सब कामोंमें यह दुःशासनके हाथसे खींची हुई मेरी वेणी आपको याद रखनी चाहिये ।'

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांशुगुण्ठितम् ।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ३९ ॥

'यदि मैं दुःशासनकी श्याम भुजाको कटकर धूलमें सनी हुई नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको कैसे शान्ति मिलेगी ?'

इत्युक्त्वा वाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं वाष्पगद्गदम्॥ ४२॥

'शोकावरुद्ध कण्ठसे इस प्रकार विलाप करके विशालनेत्रा द्रौपदी काँपती हुई गद्गद होकर उच्चस्वरसे रोने लगी।'

द्रौपदीके वचन सुनकर भगवान् दया करके कौरवोंको नष्ट करनेकी घोर प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं—

चलेद्धि हिमवाञ् शैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥ ४८॥

'भले ही हिमालय पर्वत विचलित हो जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ, तारोंके सहित स्वर्ग गिर पड़े, पर मेरे वचन व्यर्थ नहीं हो सकते।'

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे वाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्राञ् श्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥ ४९॥

'हे द्रौपदी! अश्रुओंको रोको, मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू अपने पतियोंको शीघ्र ही राज्यश्रीसे युक्त और निहत-शत्रु अर्थात् जिनके शत्रु मर चुके हैं ऐसे देखेगी।'

इससे सिद्ध है कि भगवान्‌को युद्ध अवश्यमेव कराना था, केवल संसारकी मर्यादा रखनेके लिये तथा अपने प्यारे पाण्डवोंका कलङ्क दूर करनेके लिये ही उनका हस्तिनापुर जाकर संधिके लिये चेष्टा करना समझा जाता है।

युद्धमें अस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय भक्त भीष्म-

के लिये चक्र ग्रहण करनेमें भी उनकी इच्छा ही कारण है। भीष्मपर्वका यह प्रसंग देखनेसे मालूम होता है कि यह बड़े ही रहस्य और वीर-रससे भरी हुई प्रेममयी लीला है। भीष्मपितामह बड़े ही भक्त और श्रद्धालु थे। उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवान्ने यह विचित्र क्रिया की। वास्तवमें भगवान्की सम्पूर्ण क्रियाएँ निर्दोष और दिव्य हैं। उनकी दिव्यताका जानना साधारण बात नहीं है।

भगवान्के अनन्त दिव्य गुणोंकी महिमा कौन गा सकता है? संसारमें क्षमा, दया, शान्ति आदि जितने गुण दीखते हैं, तेज, ऐश्वर्य आदि जितनी विभूतियाँ प्रतीत होती हैं, शक्ति और प्रताप आदि जितने उच्च प्रभाव हैं, उन सबको भगवान् श्रीकृष्णके तेजके एक अंशका ही विस्तार समझना चाहिये। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगशक्तिके एक) अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

नाम-रूप-लीला-धाम

महासर्गके पूर्वमें एक निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे। फिर महासर्गके आरम्भमें उन परमात्माकी अभिन्न शक्ति-रूपा प्रकृतिमें, जिसे अव्याकृत माया कहते हैं, जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये स्वाभाविक ही क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिससे वह स्वाभाविक ही तीन गुणोंमें विभक्त हो गयी। जिस प्रकार दही मथनेपर वह नवनीत और मट्ठा—इन दो अलग-अलग रूपोंमें परिणत हो जाता है; इसी प्रकार प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर वह विद्या और अविद्या—इन दो रूपोंमें हो जाती है। इस तरह उसके तीन रूप हो जाते हैं अर्थात् उसमें उत्पन्न हुई हलचलरूप क्रिया तो रजोगुण है और उससे उत्पन्न होनेवाली विद्या सत्त्वगुण तथा अविद्या तमोगुण है। इन तीन गुणोंसे संयुक्त जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण निराकार है। उसीसे आदि-सृष्टिका विस्तार होता है। सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेके लिये वही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपमें प्रकट होते हैं तथा वही सगुण निराकार परमात्मा ही श्रीनृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सगुण साकाररूपोंमें प्रकट होकर युग-युगमें लीला करते हैं। जिस प्रकार आकाशमें परमाणुरूपसे स्थित जल ही पहले रसरूपमें होकर फिर स्थूल जलके रूपमें प्रकट होता है तथा जैसे परमाणुके रूपमें विद्यमान निराकार पृथ्वी ही गन्धरूपमें प्रकट होकर फिर साकार भूमिके रूपमें प्रादुर्भूत होती है, इसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही सगुण निराकार होकर फिर सगुण-साकाररूपमें प्रादुर्भूत

होते हैं; परंतु जिस तरह जलका वह कारणभूत परमाणुरूप, सूक्ष्म रसरूप और स्थूल जलरूप——तीनों वस्तुतः जल ही है तथा जिस तरह पृथ्वीका कारणभूत परमाणुरूप, सूक्ष्म गन्धरूप और स्थूल पृथ्वीरूप——वस्तुतः पृथ्वी ही है, उसी तरह निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकाररूपमें वस्तुतः वह एक परमात्मा ही है । उपर्युक्त प्रकारसे समग्ररूप परब्रह्म परमात्माके तत्त्वको समझकर उसकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना करनेसे मनुष्य बहुत शीघ्र अविद्या और जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिसे सदाके लिये मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो सकता है ।

इस घोर कलिकालमें परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उसकी भक्ति ही सर्वोत्तम और सुगम उपाय है । जब वे परमात्मा सगुण साकारस्वरूपमें अवतार लेते हैं, तब मूढ़ पुरुष उन्हें नहीं जान पाते; क्योंकि वे मायाके परदेमें छिपे रहते हैं (गीता ७ । २५) । जो पुरुष परमात्माकी शरण होकर उनकी भक्ति करता है; उसके सामनेसे परमात्मा अपनी मायाका परदा हटा लेते हैं, जिससे उस पुरुषको उनके साक्षात् चिन्मय दिव्य सगुण साकार रूपका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है । इसलिये प्रत्येक मनुष्यको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी भक्ति करनी चाहिये ।

भक्तिका अनुष्ठान करनेवालोंके लिये एक बहुत ही सरल और महत्त्वपूर्ण साधन यह है । भगवत्-सम्बन्धी पदार्थोंमें चार मुख्य हैं—भगवान्‌के दिव्य नाम, रूप, लीला और धाम । इनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य——इन चारोंको विशेषरूपमें समझना

चाहिये तथा गुणका भी प्रभाव, तत्त्व और रहस्य समझना चाहिये एवं प्रभावका भी तत्त्व, रहस्य समझना चाहिये और इस मानव-देहमें प्राप्त कान, नेत्र, मन और वाणी—इन चार द्वारोंसे उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना चाहिये । यद्यपि अन्तःकरण और इन्द्रियाँ आदि प्रायः सभी द्वारोंसे परमात्माकी उपासना हो सकती है; परंतु उनमें ये चार द्वार मुख्य हैं । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कानोंके द्वारा भक्तोंसे श्रवण करना, नेत्रोंके द्वारा सत्‌शास्त्रोंमें पढ़ना, फिर मनसे मनन करना और तदनन्तर वाणीके द्वारा कथन करना चाहिये । इस प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक इनका सेवन करनेसे सेवन करनेवाले मनुष्यको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परम आनन्द, असीम समता और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

अब इन उपर्युक्त पदार्थोंको भलीभाँति समझनेके लिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है ।

भगवन्नामका गुण

क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम आदि जो परमात्माके दिव्य गुण हैं, वे ही सब नामके अंदर भी हैं; क्योंकि नामके जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे उपासकमें नामीके दिव्य गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं । नामकी गुण-गरिमा क्या कही जाय ! श्रीतुलसीदासजीने नाम-महिमा बतलाते हुए कहा है—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥

(रा० च० मा० बाल० २५ । ४)

भगवन्नामका प्रभाव

नामका जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे पूर्वकृत समस्त संचित पापोंका; अज्ञानमूलक अहंता-ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका; झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत आदि दुराचारोंका तथा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
(रा० च० मा० बाल० २५। ३-४)

तथा—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
(रा० च० मा० बाल० २१)

किसी कविने कहा है।

जब ही नाम हिरदै धर्‍यो भयो पापको नास।
मानौ चिनगी अग्निकी परी पुराने घास॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(६। २। १८)

‘जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है, उसी प्रकार

उत्तमश्लोक श्रीहरिके नामका कीर्तन, जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है ।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
(शिक्षाष्टक)

'भगवान्‌ने अपने अनेकों नाम प्रकाशित किये और उनमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी तथा उसके स्मरणमें कालका नियम नहीं बनाया अर्थात् भगवान्‌के नामका स्मरण मनुष्य सभी समय कर सकता है, इसमें कोई रुकावट नहीं है ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है । अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

भगवन्नामका तत्त्व

नाम नामीसे अभिन्न है अर्थात् नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (१०। २५) अर्थात् 'अन्य समस्त यज्ञ तो मेरी प्राप्तिके साधन हैं, पर जपयज्ञ तो स्वयं मैं ही हूँ।' वस्तुतः परमात्मा ही स्वयं नामके रूपमें प्रकट होते हैं। परमात्माका स्वरूप, परमात्मविषयक ज्ञान और परमात्माका नाम—ये एक ही वस्तु हैं; इसलिये नाम-जप करनेसे नामीकी स्मृति स्वतः ही हो जाती है। इस प्रकार समझना परमात्माके नामका तत्त्व समझना है।

कठोपनिषद्‌में कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(१। २। १६)

'यह ॐकार अक्षर ही सगुण ब्रह्म है, यह अक्षर ही निर्गुण परब्रह्म है। इस ॐकाररूप अक्षरको ही जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिल जाती है।'

भगवन्नामका रहस्य

वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौगुना अधिक फल देनेवाला है। वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है।'

श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥
(रा० च० मा० अरण्य० १६)

सादर सुमिरन जे नर करहीं ।
भव बारिधि गोपद इव तरहीं ॥
(रा० च० मा० बाल० ११८ । २)

जो नामके रहस्यको समझता है, वह पुरुष नामकी ओटमें कभी पाप या दम्भ नहीं करता । भाव यह है कि नामसे पापोंका नाश होता ही है—ऐसा समझकर पापाचरण करना तथा लोगोंको दिखलानेके लिये नाम-जपका बहाना करना और भीतर-ही-भीतर छिपकर पाप करना—नामकी ओटमें पाप और दम्भ करना है । नामके रहस्यको जाननेवाला पुरुष इन दोषोंसे रहित होता है ।

भगवत्स्वरूपका गुण

भगवान्‌का रंग, रूप, आकृति और लावण्य बहुत ही मधुर, कोमल, रसमय, परम आकर्षक, कान्तिमय, चमकीला, अलौकिक, सुन्दर और अद्भुत है तथा उनमें निरतिशय असीम और अत्यन्त विलक्षण क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, न्याय, सौहार्द, सरलता, मधुरता, समता, उदारता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, सत्यता, निरभिमानिता, निरहंकारिता, निर्वैरता, निर्भयता, पवित्रता, भक्तवत्सलता, सौम्यभाव आदि अनन्त दिव्य गुण हैं । यह भगवान्‌के गुणोंका दिग्दर्शन है ।

भगवत्स्वरूपका प्रभाव

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान, वैराग्य, धर्म,

यश, श्री, विभूति, महिमा, कान्ति, जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेकी सामर्थ्य, सर्वज्ञता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्व-नियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता तथा सम्भवको असम्भव और असम्भवको भी सम्भव कर देनेकी सामर्थ्य आदि—ये अपरिमित प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानसे समस्त दुर्गुण-दुराचार, विकार और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्गुण, सदाचारसम्पन्न होकर, जन्म-मृत्युरूप संसारसमुद्रसे तरकर सहज और शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२।७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

भगवत्स्वरूपका तत्त्व

जिस प्रकार आकाशमें परमाणु, भाप, कुहरा, बादल, बूँदें, ओले और बर्फ आदि सब तत्त्वतः एक जल ही है इसी प्रकार सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण आदि जो कुछ भी है और जो इससे परे है, सब तत्त्वतः—एक परमात्मा ही है।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥
(११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे पृथक् और कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चयपूर्वक समझो।'

भगवत्स्वरूपका रहस्य

वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र समभावसे स्थित, सगुण-

निर्गुणरूप परमात्मा ही दिव्य अवतार धारण करके स्वयं प्रकट होते हैं तथा उनके दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य आदि इतने अचिन्त्य, असीम और दिव्य हैं कि उनके अपने सिवा उन्हें अन्य कोई जान ही नहीं सकता। यह उनका रहस्य है।

गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

तथा अर्जुन कहते हैं—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
(गीता १०। १४, १५ का पूर्वार्ध)

'हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही। हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के स्वरूपका रहस्य प्रकट करते हुए कहा है—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥

छन महिं सबहि मिले भगवाना । उमा मरम यह काहुँ न जाना ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ५ । ३-४)

तथा जो पुरुष परमात्माके स्वरूपका स्मरण करता है, वह उनको अत्यन्त प्रिय है । यह भी रहस्यकी बात है ।

भगवान्‌की लीलाके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्य

रामावतारकी कथा है । जिस समय विभीषण भगवान् श्रीरामकी शरणमें आये हैं, उस समय भगवान्‌ने सुग्रीवसे पूछा कि इसमें तुम्हारी क्या राय है । सुग्रीवने कहा—'भगवन् ! राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती, न माळूम भेद लेने आया है या किस कारणसे आया है । राक्षस मौक़ा पड़नेपर धोखा देकर घात कर सकता है । इसलिये मेरी रायमें तो इसे कैद कर लेना उचित है ।' इसपर भगवान्‌ने कहा—'मित्र ! तुमने जो बात कही सो तो बहुत ही अच्छी बात है; किंतु दुष्टहृदय पुरुष मेरे सम्मुख नहीं आ सकता और यदि यह हमारा भेद लेनेके लिये आया है तो भी कोई भय नहीं है; क्योंकि जगत्‌में जितने भी राक्षस हैं, उन्हें लक्ष्मण क्षणभरमें मार सकता है तथा यदि यह भयसे त्रस्त होकर शरणमें आया है तो मेरा यह नियम है कि—

मम पन सरनागत भय हारी ।

(रा० च० मा० सुन्दर० ४२ । ४)

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(युद्ध० १८ । ३३)

'जो मनुष्य एक बार भी मेरी शरण होकर 'मैं आपका ही हूँ'—इस प्रकार कहकर मुझसे अभयकी याचना करता है, उसको मैं सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंसे अभय दे देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

इसपर हनुमान्‌जी आदि विभीषणको भगवान्‌के निकट लिवा लाये। आते ही विभीषणने भगवान्‌के चरणप्रान्तमें गिरकर भगवान्‌की शरण ग्रहण की। भगवान्‌ने उनको अपने हृदयसे लगा लिया और उसी समय समुद्रका जल मँगवाकर उनको लङ्काके लिये राजतिलक कर दिया।

यहाँ विभीषणके विषयमें सुग्रीवसे सम्मति पूछना और उनके कथनको उचित बतलाना—यह भगवान्‌की नीति और प्रेम है। शरणमें आये हुएका त्याग न करना—यह शरणागतवत्सलता है और विभीषणको लङ्काका राजतिलक कर देना–यह नीति और उदारता है। यह सब भगवान्‌की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

कोई भी दुष्टहृदय मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख नहीं आ सकता—यह भगवान्‌की लीलाका प्रभाव है। तथा लक्ष्मण क्षणभरमें समस्त निशाचरोंको मार सकता है—यह लक्ष्मणका प्रभाव भी भगवान्‌की कृपासे ही होनेके कारण भगवान्‌का ही प्रभाव है।

पूर्णब्रह्म परमात्मा ही स्वयं श्रीरामके रूपमें प्रकट हुए हैं। इस प्रकार भगवान्‌की भगवत्ताको समझना ही भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है।

भगवान् विभीषणको अभयदान देना चाहते थे। पर भगवान्‌ने इसे गुप्त रखकर सुग्रीव आदिसे उसके लिये राय पूछी और

उनका मान रखते हुए ही अपने उद्देश्यके अनुकूल कार्य किया। तथा भगवान्‌के सामने राक्षसोंकी माया, छल-कपट नहीं चलता—यह बात सुग्रीवादि नहीं जानते थे, इसीसे उनके सामने अपने प्रभावका रहस्योद्घाटन कर दिया कि—

जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥
(रा० च० मा० सुन्दर० ४३। २)

भगवान्‌ने इसमें संकेतसे अपने छिपे हुए प्रभावको प्रकट कर दिया कि दुष्टहृदय मेरे सम्मुख नहीं आ सकता; जो सम्मुख आता है, वह समस्त दूषणोंसे रहित होता है। इस प्रकार भगवान्‌के द्वारा किये हुए रहस्योद्घाटनको समझ लेना ही भगवान्‌की लीलाका रहस्य समझना है।

कृष्णावतारकी कथा है। एक दिन यमुनाजीके तीरपर भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओं—ग्वालबालोंके साथ भोजन करते-करते बाललीला करने लगे। जब सब अपने-अपने छींके खोलकर भोजन करने लगे, तब भगवान् सबके बीचमें बैठ गये और चारों ओर सब ग्वाल-बाल मण्डलाकार पंक्ति बनाकर बैठ गये तथा आपसमें अपने-अपने भोजनको बढ़िया बताते हुए एक-दूसरेको हँसाने लगे। उस समय भगवान् अपने हाथमें ग्रास लिये उनको इस प्रकार हँसा रहे थे कि वे सब-के-सब उनके इस विनोदमें तन्मय हो गये। उन्हें बछड़ोंका भी ध्यान न रहा और बछड़े जंगलमें बहुत दूर निकल गये। जब बछड़ोंका ध्यान आया; तब सब भयभीत हो गये। भगवान्‌ने कहा—'भय मत करो। मैं उन्हें

लौटा लाता हूँ।' ऐसा कहकर भगवान् उनकी खोज करने चले। ब्रह्माजी इस बाल-लीलाको देखकर मोहित हो गये। उन्होंने पहले तो बछड़ोंको और पीछे ग्वाल-बालोंको भी छिपा दिया। जब भगवान्को बछड़े नहीं मिले और वापस आनेपर जब उन्होंने गोपबालकोंको भी नहीं देखा, तब वे झट जान गये कि यह ब्रह्माजीकी करतूत है। तब ग्वाल-बालों और बछड़ोंकी माताओंको आनन्दित करने तथा ब्रह्माजीका मोह नाश करनेके लिये भगवान् स्वयं वैसे-के-वैसे बछड़े और बालक बन गये। जितने बछड़े और बालक थे, जैसे उनके शरीर-हाथ-पैर थे; जैसी उनकी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छीके थे; जैसे उनके वस्त्र, आभूषण, शील, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति और अवस्थाएँ थीं और जैसी उनकी क्रीड़ाएँ थीं; ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें भगवान् प्रकट हो गये। उस समय भगवान्ने 'यह सब जगत् विष्णुमय है'—यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी।*

श्रीबलदेवजीने पहले कुछ नहीं समझा; फिर जब उन्होंने देखा कि ग्वाल-बालोंकी माताओंका अपने बच्चोंपर पहलेसे बहुत अधिक स्नेह बढ़ गया है और जिन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है, उन बछड़ोंपर भी गायें बहुत अधिक स्नेह करती हैं, तब उन्हें

---

* यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणु दलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥
(श्रीमद्भा० १०।१३।१९)

संदेह हुआ और उन्होंने पहचाननेकी दृष्टिसे सबकी ओर देखा। उस समय उन्हें सभी बछड़े, उनके रक्षक गोपबालक, उनकी सम्पूर्ण सामग्रियाँ प्रत्यक्ष श्रीकृष्णरूप दीख पड़ीं और वे चकित हो गये।

इस लीलामें ब्रह्माजीके कालमानसे केवल एक त्रुटि समय बीता था। जब उन्होंने देखा, तब वे यह नहीं समझ सके कि इन दोनोंमें कौन-से ग्वालबाल और बछड़े असली हैं तथा कौन-से पीछेसे बनाये हुए हैं। वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उन्हें वे सब ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी देने लगे। वे भगवान्की भगवत्ताको जान गये और तुरंत भगवान्के चरणोंमें पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिर पड़े तथा गद्गद वाणीसे स्तुति करते हुए क्षमा माँगने लगे। तब भगवान्ने अपनी माया समेट ली।

बालकोंके साथ इस प्रकार प्रेमभोज करते हुए बालक्रीड़ा करना प्रेमकी बात है। भगवान्ने स्वयं ग्वालबाल और बछड़े बनकर उनकी माताओं और गायोंके साथ मातृभावसे बर्ताव किया। इसमें उनकी दया और प्रेम भरा है। ब्रह्माजीको लीलाका चमत्कार दिखलाकर उनके मोहका नाश करना—यह भी भगवान्की दया है। यह सब भगवान्की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवान्ने अपनी अद्भुत दिव्य शक्तिसे अनेक रूप धारण कर लिये—यह उनकी लीलामें प्रभावका दिग्दर्शन है।

ग्वालबाल, बछड़े, उनकी छड़ी, बाँसुरी आदि सब वस्तुतः भगवान् ही बने थे; भगवान्ने ही अनेक रूप बनाकर लीला की—यह भगवान्की लीलामें तत्त्वका दिग्दर्शन है।

माताओं और गायोंकी जो भगवान्‌में वात्सल्य-भावकी इच्छा थी, उसकी इस प्रकार गुप्तरूपमें पूर्ति करना—यह लीलामें रहस्यका दिग्दर्शन है।

भगवान्‌की प्रत्येक चेष्टा पद-पदपर मङ्गलमय गुणोंसे ओतप्रोत है। इसलिये भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें क्षमा, दया, प्रेम, समता आदि उनके अचिन्त्य-अनन्त गुणोंको देखना ही लीलामें गुणोंका देखना है।

भगवान्‌की लीलाओंमें इस प्रकार गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझते हुए उन्हें आदर्श मानकर उनका दर्शन, चिन्तन, स्मरण और अनुकरण करनेसे अर्थात् भगवान्‌के व्यवहारके अनुकूल अपना आचरण बनानेसे अन्तःकरण पवित्र होकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। यह समझना भगवान्‌की लीलाका प्रभाव समझना है।

जिस प्रकार गोपबालक, बछड़े, उनकी लकुटी, सींग, बाँसुरी और उनकी क्रीड़ा आदि सब भगवान् ही थे, उसी प्रकार विश्वमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि जो कुछ भी है, सब तत्त्वतः भगवान् ही हैं—यह समझना लीलाका तत्त्व समझना है।

भगवान्‌की समस्त चेष्टाएँ स्वार्थ और अहंकाररहित होनेके कारण परम पवित्र और कार्यकारिणी होती हैं अर्थात् भगवान् किसीको भी निमित्त बनाकर जो भी चेष्टा करते हैं, वह उसके कल्याणके लिये ही करते हैं, एवं उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ अत्यन्त विशुद्ध होती हैं। यह समझना लीलाका रहस्य समझना है।

भगवद्धामका स्वरूप

धामसे उस परमधामको समझना चाहिये, जो भगवान्‌का

चिन्मय, नित्य दिव्यलोक है; जो सर्वोपरि, सबसे श्रेष्ठ, नित्य सत्य है; जिसको ब्रह्मके उपासक ब्रह्मलोक, वेदवेत्ता सत्यलोक, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, श्रीरामके उपासक साकेतलोक, श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठलोक, श्रीशिवके उपासक शिवलोक मानते हैं—इस प्रकार जिसको विभिन्न उपासकगण अनेक नामोंसे कहते हैं तथा जिसको वे सभी सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ और परम दिव्य मानते हैं; परंतु वहाँ बुद्धि, मन, वाणीकी पहुँच नहीं है, उसके विषयमें जो कुछ कहा जाता है, उससे वह अत्यन्त ही विलक्षण है।

भगवद्धामका गुण

क्षमा, दया, शान्ति, समता, प्रेम, न्याय आदि जो भगवान्के नित्य गुण हैं, वे उस धाममें स्वाभाविक ही हैं; क्योंकि भगवान् ही स्वयं धामके रूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिये उस धाममें निवास करनेवाले भक्तोंमें भी वे गुण स्वाभाविक रहते हैं। जिन प्रेमी भक्तोंको भगवान्के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं, वे उस परम धामको जाते हैं। तथा भगवान्के दर्शनके प्रभावसे उपर्युक्त गुण उनमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं और जो साधक भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधनोंके द्वारा भगवान्के धाममें जाते हैं, उनमें उपर्युक्त प्रायः सभी गुण पहलेसे ही आ जाते हैं, किंतु यदि किसीमें कुछ कमी होती है तो उस गुणकी पूर्ति वहाँ प्रवेश होनेके साथ उसी क्षण हो जाती है। यह सब भगवद्धामके गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवद्धामका प्रभाव

भगवद्धामका ऐसा प्रभाव है कि जो उस परम धाममें पहुँच जाता है, वह लौटकर नहीं आता। यदि संसारके कल्याणके लिये

भगवान्‌के साथ भगवान्‌का परिकर होकर या भगवान्‌की आज्ञासे अधिकार लेकर कारक पुरुषके रूपमें आता है तो उसके जन्म, कर्म और शरीर निर्दोष, विशुद्ध और दिव्य होनेके कारण उसका आना भी न आनेके समान ही है; क्योंकि वह संसारकी माया और मायाके कार्यसे कभी किसी प्रकार लिप्त नहीं होता तथा उसका देह अनामय होता है। उस लोकमें जो रहते हैं, उनके शरीर जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दोषों तथा समस्त विकारोंसे रहित और परम पवित्र होकर भगवान्‌की भाँति ही दिव्य, चिन्मय, अलौकिक और सम्पूर्ण सद्गुणोंसे युक्त हो जाते हैं एवं उनमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनके अतिरिक्त भगवान्‌के अन्य सभी प्रभाव और ऐश्वर्य आदि आ जाते हैं। उस धाममें जितने भी पदार्थ होते हैं, वे सब दिव्य, चिन्मय और अलौकिक होते हैं। यह सब भगवद्धामके प्रभावका दिग्दर्शन है।

भगवद्धामका तत्त्व

भगवान् ही स्वयं धामके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं। इसलिये धाम साक्षात् भगवान्‌का ही स्वरूप है। निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सगुण निराकारके रूपमें होकर फिर परम धामके स्वरूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये धाम परमात्माका स्वरूप होनेके कारण उनसे अभिन्न हैं। यह जानना ही धामका तत्त्व जानना है।

भगवद्धामका रहस्य

भगवान् और भगवान्‌के धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व तथा लीलाकी गोपनीय दिव्य रहस्यमयी बातें जो यहाँ समझमें नहीं

आतीं, वे वहाँ उस परमधाममें जानेपर ज्यों-की-त्यों यथार्थरूपसे जाननेमें आ जाती हैं। अर्थात् वहाँ जाते ही उसे भगवान् और भगवान्का धाम वस्तुतः क्या चीज है—इसका तात्त्विक रहस्य एकदम प्रत्यक्ष हो जाता है। वहाँ न जानी हुई जानी जाती है, न अनुभव की हुई अनुभव की जाती है और न देखी हुई देखी जाती है, न सुनी हुई सुनी जाती है, न समझी हुई समझी जाती है; क्योंकि वहाँ पहुँचनेपर बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि सभी दिव्य हो जाते हैं। यहाँ भगवान् और उनके धामके विषयकी जो बातें सुनी-समझी जाती हैं, उनसे वह अत्यन्त निराला—विलक्षण है; क्योंकि लौकिक बुद्धि, मन, वाणीकी वहाँ पहुँच ही नहीं है। वहाँ जानेपर इन सबका सम्पूर्ण भेद—रहस्य खुल जाता है और फिर इस विषयकी कोई भी शंका नहीं रह जाती। यह समझना धामका रहस्य समझना है।

इस लोकमें भगवान्ने जहाँ अवतार लेकर लीला की है, ऐसे अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि भी भगवान्के परम धाम माने गये हैं; क्योंकि इन धामोंमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक वास करनेसे वास करनेवालेमें भगवान्के गुण आ जाते हैं तथा उनका तत्त्व-रहस्य समझनेसे मनुष्योंमें श्रद्धा, प्रेम और भक्तिका आविर्भाव हो जाता है एवं उन स्थानोंमें मरनेपर उनके प्रभावसे मनुष्य सब पापोंसे रहित होकर मुक्त हो जाता है।

अब भगवान्के गुणोंका प्रभाव, तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावका तत्त्व-रहस्य किस प्रकार समझना चाहिये, यह बतलाया जाता है।

भगवद्गुणोंका प्रभाव

भगवान्‌के क्षमा, दया, प्रेम आदि दिव्य गुणोंके श्रवण, मनन, चिन्तन, वर्णन, गायन आदि करनेसे मनुष्यमें उन सम्पूर्ण गुणोंका आविर्भाव हो जाता है तथा वह समस्त दोषोंसे रहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह गुणोंका प्रभाव है।

भगवद्गुणोंका तत्त्व

भगवान्‌के सम्पूर्ण गुण दिव्य और चिन्मय हैं तथा भगवान्‌से अभिन्न हैं। वहाँ गुण और गुणीका भेद नहीं है—यह जानना ही भगवान्‌के गुणोंका तत्त्व जानना है।

भगवद्गुणोंका रहस्य

भगवान्‌के दया, प्रेम आदि गुणोंमें यह रहस्य देखना चाहिये कि भगवान्‌के दया और प्रेम आदि गुण हेतुरहित और विशुद्ध होते हैं, उनमें कायरता, ममता, कामना, लज्जा, स्वार्थ और भय आदि दोष नहीं होते। इसी प्रकार उनके सभी गुण हेतुरहित, अनन्त, दिव्य और विशुद्ध होते हैं। गुणोंके इस रहस्यको जो समझ जाता है, वह फिर उन परमात्माकी ही शरणमें चला जाता है और उन्हींसे अनन्य प्रेम करता है तथा उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। विभीषण भी भगवान्‌की दया और प्रेम आदिके यशको सुनकर उनका रहस्य समझकर ही उनकी शरणमें गये थे। उन्होंने स्वयं यह बात कही है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(रा० च० मा० सुन्दर० ४५)

एवं उपर्युक्त गुणोंके रहस्यको समझनेवाला फिर स्वयं वैसा ही बन जाता है। भगवान्‌ने गीतामें भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है कि उनमें दया, प्रेम, क्षमा, निर्ममता, निरहंकारता, समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं (१२।१३)।

संसारमें यावन्मात्र प्राणियोंमें जितने भी गुण दीख रहे हैं, वे उन गुणसागर परमात्माके दिव्य गुणोंके एक अंशकी ही झलक हैं। इस प्रकार समझना गुणोंके रहस्यको समझना है।

भगवत्प्रभावका तत्त्व

जो भी भगवान्‌का बल, ऐश्वर्य, शक्ति आदि प्रभाव है, वह भगवान्‌से अभिन्न है। जैसे अग्निका प्रकाशन और दहन आदि प्रभाव अग्निसे अभिन्न है, इसी प्रकार भगवान्‌का प्रभाव भगवान्‌से अभिन्न है। यह जानना ही भगवान्‌के प्रभावका तत्त्व जानना है।

भगवत्प्रभावका रहस्य

अग्नि, सूर्य और चन्द्रमामें जो तेज है तथा संसारमें जो कुछ भी विभूतियुक्त, तेजयुक्त, कान्तियुक्त पदार्थ है, वह सब-का-सब भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका प्राकट्य है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(१५।१२)

'सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है

तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है—उसको तू मेरा ही तेज जान ।'

तथा—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(१० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ।'

अब ऊपर बताये हुए पदार्थोंके सेवनकी विधिपर विचार करते हैं ।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा*, प्रेम† और निष्कामभाव-‡ पूर्वक भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके द्वारा श्रवण करना और श्रवण करके

* ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है । श्रद्धेयमें जब श्रद्धा हो जाती है, तब वह उसके संकेत, मन और आज्ञाके अनुसार ही चलता है । उसीमें उसे महान् शान्ति तथा आनन्द मिलते हैं एवं उनका पालन न करना तो उसके द्वारा बन ही नहीं सकता, किंतु यदि किसी कारणवश आज्ञा-पालन न हो तो उसके लिये वह मृत्युके तुल्य है ।

† अपने प्रेमास्पदकी कभी विस्मृति न हो और उसके वियोगमें जलके वियोगमें मछलीकी तरह तड़पने लग जाना 'प्रेम' है ।

‡ अहंता, ममता, आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर किसी भी प्रकारकी तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, कामना आदिका न रहना 'निष्कामभाव' है ।

वीणाके सुननेसे जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेममें मुग्ध हो जाना एवं रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध और हृदयकी प्रफुल्लताका होना—यह कानोंके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है। इसलिये ज्ञानी भक्तोंके पास जाकर, उनको साष्टाङ्ग प्रणाम, सेवा-शुश्रूषा और निष्कपटभावसे प्रश्न करके उनसे भगवान्‌की उपर्युक्त बातें सुननी चाहिये।

नेत्रोंके द्वारा गीता, रामायण, भागवत आदि सत्-शास्त्रोंमें लिखी हुई भगवान्‌की नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी बातोंका अर्थ, भाव और विवेचनपूर्वक श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे स्वाध्याय करना; सारे संसारको भगवत्स्वरूप देखना; भगवान्‌के स्वरूप, चित्र, मूर्ति और लीला आदिको चकोरकी भाँति एकटक देखना तथा माता-पिता, स्वामी-सुहृद्, आचार्य, अतिथि, ज्ञानी, महात्मा, भगवद्भक्त आदि पुरुषोंको भगवत्स्वरूप समझकर उनके दर्शन करना एवं ऐसा करते हुए रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध और हृदयकी प्रफुल्लता होकर प्रेममें मुग्ध हो जाना—यह नेत्रोंके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

सुनी, पढ़ी और समझी हुई भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका एकान्त और पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर आसनपर बैठकर श्रद्धा-प्रेम और निष्काम-भावपूर्वक विवेक-वैराग्ययुक्त* चित्तसे मनन करना तथा दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा मनसे भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना,

* सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक होनेपर मनुष्य प्रत्येक अवस्था और वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा

पूजा-नमस्कार आदि करना; चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सभी काम करते हुए सब समय उपर्युक्त बातोंका मनन करना; सोनेके समय उपर्युक्त भावोंसे भावित होकर उनका मनन करते रहना और मनसे सबको भगवान्‌का स्वरूप समझते हुए भगवच्चिन्तन करना तथा इस प्रकार करते हुए देहकी भी सुधि भुलाकर तन्मय हो जाना एवं रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध, हृदयकी प्रफुल्लता तथा मुग्धता हो जाना—यह मनके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी बातोंको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे स्वयं मधुर वाणीसे कीर्तन करना, कथा-व्याख्यानादिद्वारा दूसरोंको सुनाना; दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना और सबमें भगवद्भाव रखकर सबके साथ हितपूर्ण, सत्य, प्रिय, मधुर, कोमल वाणीसे वार्तालाप करना एवं इस प्रकार करते-करते रोमाञ्च, अश्रुपात, कण्ठावरोध, हृदयकी प्रफुल्लता होकर प्रेममें मुग्ध हो जाना—यह वाणीके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

और अनात्माका विश्लेषण करते हुए परमात्माके तत्त्वका बार-बार मनन करता है।

वैराग्यकी व्याख्या महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें इस प्रकार की है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(१।१५)

'स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।'

उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेपर साधकको अपने इष्टदेवका, जिस रूपमें वह दर्शन करना चाहता है, उसी रूपमें साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय उसकी विलक्षण अवस्था हो जाती है; वह प्रेम, आनन्द और आश्चर्यमें मुग्ध हो जाता है; उसे भगवान्‌के सिवा, अपने आपका भी ज्ञान नहीं रहता; वह भगवान्‌को ही एकटक देखने लगता है; उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती तथा भगवान्‌के साक्षात् दर्शन, स्पर्श और वार्तालाप आदि करनेसे उसके रोमाञ्च होने लगते हैं, कण्ठावरोध हो जाता है, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं और वाणी गद्गद हो जाती है। उसके आनन्दका पारावार नहीं रहता। वह परमानन्दमें निमग्न हो जाता है।* तथा जहाँ उसके मन और नेत्र जाते हैं, वहीं उसे भगवान् दीखते हैं। भगवान् उसके मन और आँखोंसे कभी ओझल नहीं होते।† और इस प्रकार सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण उसमें

---

* जब श्रीअक्रूरजी कंसकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी-को लेनेके लिये गोकुल गये, उस समय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन करके उनकी जो दशा हुई, उसका वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं—

भगवद्दर्शनाह्लादवाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
पुलकाञ्चिताङ्ग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन्नृप ॥
(१० । ३८ । ३५)

'हे राजन् ! भगवद्दर्शनके आह्लादसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया और गला भर आनेके कारण वे अपना परिचय भी न दे सके।'

† भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

अद्भुत समता आ जाती है । समस्त पदार्थ, भाव, घटना, क्रिया और परिस्थितिमें तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें उसकी विलक्षण समता हो जाती है ।* वह सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा जैसा और जिस प्रभाववाला है, उसको यथार्थरूपसे तत्त्वतः जान जाता है । फिर वह समस्त संशय, भ्रम, अज्ञान और पापोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है । उसके लिये कोई भी कर्तव्य या ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता । वह हर समय परमात्मामें ही तल्लीन रहता है । उसकी सारी चेष्टा परमात्मामें ही होती है । भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(गीता ६ । ३१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ।'

* भगवान्‌ने भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

(गीता १२ । १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मानापमानमे सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है । जो निन्दा-स्तुति-को समान समझनेवाला, मननशील और जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

ऐसे महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप करनेसे मनुष्य परम पवित्र बन जाता है। भागवतमें राजा परीक्षित्‌ने शुकदेवजीके प्रति अपने श्रद्धामय उद्गार प्रकट करते हुए कहा है—

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः॥
सांनिध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः॥
(१।१९।३३-३४)

'भगवन्! जिनके स्मरणमात्रसे तत्काल ही मनुष्योंके घर पवित्र हो जाते हैं, उन्हीं आपके दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन और आसनादिका सुअवसर मिलनेपर तो कहना ही क्या है? हे महायोगिन्! आपकी संनिधिसे पुरुषोंके भारी-से-भारी पाप भी इस प्रकार तुरंत नष्ट हो जाते हैं, जैसे विष्णुभगवान्‌के सामने दैत्यलोग नहीं ठहरते।'

ऐसे महापुरुष जहाँ विचरते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाता है और वहाँका वायुमण्डल पवित्र हो जाता है। श्रीनारदजीने कहा है—

निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। (नारदभक्तिसूत्र ६९)

'वे अपने प्रभावसे तीर्थोंको सुतीर्थ बनाते हैं, कर्मोंको सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं।' अर्थात् वे जहाँ रहते हैं, वही स्थान तीर्थ बन जाता है या उनके रहनेसे तीर्थका तीर्थत्व स्थायी और उज्ज्वल बन जाता है। वे जो कर्म करते हैं, वे ही सुकर्म बन जाते हैं, उनकी वाणी ही शास्त्र है और वे जिस शास्त्रको महत्त्व देकर अपनाते हैं, वही सत्-शास्त्र समझा जाता है।'

तथा—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँ-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥
(स्कन्द० मा० कौ० खं० ५५। १४०)

'जिसका चित्त इस अपार ज्ञानस्वरूप सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
(रा० च० मा० उत्तर० ११९। ८-९)

अतएव मनुष्यको उचित है कि ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के उपर्युक्त नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका कान, नेत्र, मन और वाणीद्वारा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ नित्य-निरन्तर सेवन करे।

पतन या उत्थानमें मनुष्य स्वतन्त्र है

मनुष्य सम्पूर्ण सांसारिक दुःखों और दोषोंसे सदाके लिये सर्वथा सम्बन्धरहित होकर परमानन्द और परमशान्तिस्वरूप नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाय—इसके लिये गीतादि शास्त्रोंमें बहुत-से साधन बताये गये हैं और भी कहा गया है कि उस परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति सुगम होनेके कारण शीघ्र हो सकती है। यह बात विवेक-विचारसे समझमें आती है। किंतु फिर भी कार्यरूपमें न आनेके कारण कठिनता प्रतीत होती है, जिससे निराशा-सी हो जाती है और साधनकी गति तीव्र, संतोषजनक और निरन्तर एक-सी नहीं रहती। इसका कारण क्या है? और उपाय क्या है?—इस प्रकार बहुत-से साधक प्रश्न किया करते हैं। इसका उत्तर यह है कि शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंके तत्त्व-रहस्यको वास्तवमें यथार्थ न समझनेके कारण साध्य और साधनपर श्रद्धा-विश्वास पूर्णतया नहीं होता। इस श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण ही साधनपर रुचि कम हो जाती है। इसीसे निराशा-सी उत्पन्न होकर साधनके लिये निरन्तर तत्परता नहीं रहती।

इसके लिये साधकको प्रथम तो साध्य वस्तुके तत्त्व-रहस्यको सत्संग और सत्-शास्त्रोंके द्वारा विवेकपूर्वक अच्छी तरह समझकर धारण करना चाहिये और दूसरे यह समझना चाहिये कि उस परमात्मासे बढ़कर अन्य कुछ भी साध्य वस्तु नहीं है। उसकी प्राप्ति हुए बिना इस दुःख-सागर संसारसे जीवका छुटकारा नहीं हो सकता और संसारसे छुटकारा हुए बिना जीवको नित्य परमशान्ति मिल ही

नहीं सकती। इसलिये उस साध्यस्वरूप परमात्माको लक्ष्य बनाकर शास्त्रनिर्दिष्ट मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गके अनुसार सावधानी और तत्परतापूर्वक चलना चाहिये। तभी मनुष्य उस प्रापणीय महान् तत्त्वरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

मान लीजिये, एक व्यक्ति कलकत्तेसे काशी जाना चाहता है और वहाँतककी सड़क साफ है तथा साधन भी मोटरगाड़ीका उसके पास है। मोटरके अगले भागमें दो बिजलीकी लाइट भी लगी हुई है, जो दो फर्लांगतक बराबर आगे-से-आगे रास्ता दिखाती रहती है। किंतु घोर अन्धकारमयी रात्रिका समय है और सड़कके अगल-बगल दोनों ओर गड्ढे और जंगल हैं तथा वह स्वयं ही मोटर-चालक है अतः वह सावधानीके साथ तत्परतासे मोटरको चलाये तो शीघ्र ही गन्तव्य स्थानपर पहुँच सकता है। किंतु वह मदिरा पीकर प्रमत्त हो असावधानीसे चलाये तो मार्गके अगल-बगलके गड्ढों और जंगलमें गिरकर महान् खतरेमें पड़ जाता है।

यह एक दृष्टान्त है। इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि यहाँ साधनविषयमें परमात्माका परमधाम ही काशी है। इस संसारसे निकलकर परमात्माको प्राप्त करनेका इच्छुक मनुष्य ही काशी जानेकी इच्छावाला व्यक्ति है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही निष्कण्टक, स्वच्छ और सुगम सड़क (मार्ग) हैं। मनुष्य-शरीर ही मोटरगाड़ी है। उसमें आगे-से-आगे बराबर रास्ता दिखलानेवाले विवेक और विचार ही मोटरमें लगी हुई दो लाइट हैं। अज्ञानमयी मोहमाया ही घोर अन्धकारमयी रात्रि है। दुर्गुण और दुराचार ही

मार्गके दोनों ओरके गड्ढे और जंगल हैं। स्वयं साधक ही मोटर-चालक है। सावधानीपूर्वक तेजीके साथ निरन्तर साधन करनेसे शीघ्र परमधामको प्राप्त होना ही सावधानीके साथ तत्परतासे सड़कपर मोटर चलानेसे शीघ्र गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाना है। प्रमादपूर्वक मोहमें पड़ना ही मदिरा पीकर प्रमत्त होना है और तज्जनित असावधानीके कारण दुर्गुण-दुराचारमें पड़ना ही गड्ढे और जंगलमें गिरकर महान् खतरेमें पड़ जाना है।

इसलिये साधक सदा सावधान, जागरूक और अपने साधनमें तत्पर रहे; साधनमें शिथिलता कभी भी न आने दे। सर्वप्रथम तो साधकको अपने लिये यह निर्णय करना चाहिये कि गीतादि शास्त्रोंमें निर्दिष्ट कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—इन तीनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन (मार्ग) ठीक है। उस निर्णय करनेका तरीका यह है कि उन तीनों मार्गोंमेंसे जो मार्ग अपनी शक्ति, बुद्धि और समझके अनुकूल हो, जिसमें अपनी श्रद्धा, विश्वास और रुचि हो, उसको अपने लिये निश्चयपूर्वक चुन लेना चाहिये; क्योंकि वही उसके लिये सबसे बढ़कर सुगम, उत्तम और लाभ-दायक मार्ग है। जबतक मनुष्य गन्तव्य स्थानका और मार्गका निर्णय नहीं कर लेता, तबतक वह वहाँ जा ही नहीं सकता। मार्गका निर्णय कर लेनेके पश्चात् वह उस मार्गपर चलना शुरू कर दे और मार्गपर चलते समय ऐसी सावधानी रखे कि कहीं मार्गको छोड़कर विपरीत मार्ग यानी कुमार्गरूप गड्ढेमें न चला जाय। असावधानीमें हेतु हैं—संशय, भ्रम, अज्ञान, ममता, आसक्ति, प्रमाद

और आलस्य—ये ही मनुष्यको सुखका प्रलोभन देकर मोहित करते हुए पतनके गर्तमें डाल देते हैं । इसलिये इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि इनके त्यागमें मनुष्य स्वतन्त्र है ।

मनुष्य जिस कर्मको बुद्धिद्वारा बुरा समझता है, उसे करना भी नहीं चाहता, फिर भी छोड़ नहीं पाता और जिस कार्यको अच्छा समझता है, उसे करना चाहता है फिर भी उसे कर नहीं पाता । इस प्रकार त्यागनेयोग्यको न त्यागना और करनेयोग्यको न करना—यही प्रमाद है । इस प्रमादमें मनुष्यका अज्ञान ही हेतु है । किंतु मूर्खतावश मनुष्य इसमें अपने प्रारब्धको, दूसरे व्यक्तियोंको, परिस्थितिको (घटनाको), अपने पूर्वके कर्मोंको, समयको अथवा कोई-कोई तो ईश्वरको भी कारण मान लेता है; किन्तु इन सबमेंसे कोई भी कारण नहीं है । यह सब उसकी बेसमझी है । वस्तुतः वह स्वयं ही अपना कारण है; क्योंकि न करनेयोग्य काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुण, झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि दुराचार, खेल-तमाशा, नशा आदि दुर्व्यसन और व्यर्थ कर्मके त्यागमें तथा करनेयोग्य भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदिके सम्पादनमें भी यह स्वतन्त्र है । किंतु अज्ञानसे दूसरोंके मत्थे दोष मँढ़कर अपनी सफाई देता है, यही इसकी बुरी आदत है । कोई-कोई साधक कहता है कि परमात्माकी प्राप्तिविषयक योग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदि जितने साधन हैं, वे मेरी समझमें भी आते हैं, उनको मैं हितकर भी मानता हूँ, श्रद्धा-विश्वास भी है, रुचि भी है, पर कर नहीं पाता । किंतु भलीभाँति विचार

किया जाय तो वास्तवमें उसने साधनको परम हितकर समझा ही नहीं । हितकर न समझनेमें कारण श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही है । उस कमीके कारण ही साधनमें तत्परता और उत्साह नहीं होता । इसलिये गहराईसे विचार करना चाहिये ।

जब हम यह समझ लेते हैं कि इस मिठाईमें विष मिला हुआ है, तब भूखों रहनेपर भी उस मिठाईको खाना नहीं चाहते । इसी प्रकार जब हम उस प्रमादको अनर्थकारक मान लेंगे तो फिर नहीं करनेयोग्य कर्मको कभी नहीं करेंगे और करनेयोग्य कर्मको अवश्य करेंगे । भगवान्‌की प्राप्तिको परम हितकर मान लेनेपर और उसके बिना हमारी बड़ी भारी हानि है—यह समझ लेनेपर यदि उसके साधनमें किसी प्रकारकी त्रुटि या बाधा पड़ती है तो उसको हम कैसे सहन कर सकेंगे । उसके लिये हमें घोर पश्चात्ताप और दुःख होगा । प्रापणीय वस्तुके लिये विरहव्याकुलता और छटपटाहट होगी । उसको प्राप्त किये बिना हम रह नहीं सकेंगे । यदि ऐसा नहीं होता है तो इसमें श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही हेतु है । उसीके कारण रुचिकी कमी है और रुचिकी कमीसे साधनमें उत्साह और तत्परता नहीं होती । अतएव साधनकी शिथिलतामें मनुष्य स्वयं ही हेतु है । दूसरा कोई व्यक्ति, प्रारब्ध, परिस्थिति (घटना), देश, काल, कर्म या ईश्वर आदि कोई भी नहीं ।

ईश्वर, महापुरुष और शास्त्र आदि तो साधककी मदद करनेवाले हैं । उनसे तो मनुष्य चाहे जितनी मदद ले सकता है । उनसे मदद लेनेमें भी मनुष्य स्वतन्त्र है । परंतु मनुष्य अज्ञानसे ईश्वरको

पाप करानेवाला मान लेता है और प्रमाणमें यह श्लोक भी कहता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(पाण्डवगीता)

'मैं धर्मको जानता हूँ, पर मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती; और अधर्मको भी जानता हूँ, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि अपने हृदयमें स्थित कोई देव जिस प्रकार मुझे प्रेरित और नियुक्त करता है, वैसे ही मैं करता हूँ।'

किंतु यह सिद्धान्त दुर्योधनका है, जो सर्वथा त्याज्य है। पर सबसे उच्चकोटिका सिद्धान्त गीताका है, जिसमें साक्षात् भगवान्‌के वचन हैं। पाप होनेके विषयमें अर्जुनने भगवान्‌से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'श्रीकृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने यह कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है । यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी नहीं अघानेवाला और बड़ा पापी है। इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ।'

भगवान्‌ने कामकी उत्पत्ति रजोगुणसे बतलायी और रजोगुण रागस्वरूप ही है । भगवान् अर्जुनसे पहले भी कह चुके हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
(गीता २ । ६२)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ।'

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया कि आसक्तिसे कामकी और कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है । सारे अनर्थोंका मूल आसक्ति ही है । इसलिये मनुष्यको स्त्री, पुत्र, धन, मकान, कुटुम्ब, शिष्य, मठ-आश्रम, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, पद, शरीर आदि किसी भी प्राणी, पदार्थ और क्रिया आदिमें भूलकर भी किञ्चिन्मात्र भी कभी आसक्ति नहीं करनी चाहिये । इस आसक्तिका कारण है अहंता-ममता और अहंता-ममताका कारण है अज्ञान (अविद्या) ।

योगदर्शनमें बतलाया गया है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम् । (योग० २ । ३-४)

'अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (अहंता), आसक्ति, द्वेष और मरण-भय—ये पाँच क्लेश हैं । इन पाँचों क्लेशोंमें बादवाले चारोंका

कारण अविद्या है। अर्थात् अविद्यासे ही अहंता और आसक्ति आदिकी उत्पत्ति होती है।'

अतः सारे क्लेशोंकी जड़ है अविद्या (अज्ञान) । इस अज्ञानसे ही संशय, भ्रम और प्रमादकी उत्पत्ति होती है, अज्ञानका नाश होता है यथार्थ ज्ञानसे और उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। ईश्वरकी भक्ति करनेसे ईश्वरकी कृपासे ज्ञान होता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(गीता १० । ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही रमण करते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता १० । ११)

'उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अज्ञानजनित अन्धकारको देदीप्यमान तत्त्वज्ञानरूपी दीपके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तथा निष्कामभावपूर्वक कर्तव्यपालनरूप कर्मयोगसे भी शुद्ध हुए अन्तःकरणमें अपने-आप ही यथार्थ ज्ञान प्रकट हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(गीता ४। ३८)

'इस संसारमें यथार्थ ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

एवं महापुरुषोंके बतलाये हुए साधनके अनुसार चलनेसे भी इस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति उनकी कृपासे हो जाती है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(गीता ४। ३४)

अर्जुन! उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्माको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
(गीता ४। ३५)

'पाण्डुपुत्र ! जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

तथा गीतादि शास्त्रोंके अर्थ और भावको समझकर उनका अध्ययन करनेसे भी यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है । भगवान्‌ने बतलाया है—

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

(गीता ४ । २८ का उत्तरार्ध)

'कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करते हैं ।'

और गीताका स्वाध्याय करनेवालेके लिये भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञान-यज्ञसे पूजित होऊँगा (गीता १८ । ७०) । इससे उसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है । इस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें प्रधान हेतु है श्रद्धा-विश्वास । भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

(गीता ४ । ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

किंतु बिना श्रद्धाके किया हुआ सभी कुछ व्यर्थ है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥
(गीता १७। २८)

'अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह सब असत् है—इस प्रकार कहा जाता है। इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही।' अतः सभी शुभकर्म श्रद्धापूर्वक ही करने चाहिये।

श्रद्धाकी प्राप्ति होती है अन्तःकरणकी शुद्धिसे।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(गीता १७। ३)

'भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है विवेक-वैराग्यपूर्वक भक्ति, ज्ञान और योगके साधनसे। इसलिये मनुष्यको उचित है कि भक्ति, ज्ञान और योगमेंसे जिसमें उसकी रुचि और विश्वास हो, उसीको लक्ष्य बनाकर उसे विवेक-वैराग्यपूर्वक परम उत्साह और तत्परतासे करे।



प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय

आनन्दमय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होनेके लिये सर्वोत्तम उपाय 'सच्चा प्रेम' है। वह प्रेम किस प्रकार होना चाहिये और कैसे प्रेमसे भगवान् प्रकट होकर प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ? इस विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन किया जाता है।

अनेक विघ्न उपस्थित होनेपर भी ध्रुवकी तरह भगवान्‌के ध्यानमें अचल रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भक्त प्रह्लादकी तरह राम-नामपर आनन्दपूर्वक सब प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये एवं तीक्ष्ण तलवारकी धारसे मस्तक कटानेके लिये सर्वदा प्रस्तुत रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीलक्ष्मणकी तरह कामिनी-काञ्चनको त्यागकर भगवान्‌के लिये वन-गमन करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

ऋषिकुमार सुतीक्ष्णकी तरह प्रेमोन्मत्त होकर विचरनेसे भगवान् मिल सकते हैं।

श्रीरामके शुभागमनके समाचारसे सुतीक्ष्णकी कैसी विलक्षण स्थिति होती है इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें किया है। भगवान् शिवजी उमासे कहते हैं—

होइहैं सुफल आजु मम लोचन।
देखि बदन पंकज भव मोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए।
देखि दसा निज जन मन भाए॥
(रा० च० मा० अरण्य० ९। ५-८)

राम सुसाहेब सत प्रिय सेवक दुख दारिद दवन।
मुनि सन प्रभु कह आइ उठु उठु द्विज मम प्रान सम॥

श्रीहनुमान्‌जीकी तरह प्रेममें विह्वल होकर अतिश्रद्धासे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं। कुमार भरतकी तरह राम-दर्शनके लिये प्रेममें विह्वल होनेसे

भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं। चौदह सालकी अवधि पूरी होनेके समय प्रेममूर्ति भरतजीकी कैसी विलक्षण दशा थी, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बहुत अच्छा किया है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारविन्दु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहि निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥
(रा० च० मा० उत्तर० १ क-ख)

भक्त हनुमान्के साथ भरतजीका वार्तालाप होनेके अनन्तर

श्रीरामचन्द्रजीसे भरतके मिलाप होनेके समयका वर्णन इस प्रकार है। शिवजी महाराज देवी पार्वतीसे कहते हैं—

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जनु दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४ छंद)

मान-प्रतिष्ठाको त्यागकर श्रीअक्रूरजीकी तरह भगवान्‌के चरण-कमलोंसे चिह्नित रजमें लोटनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥
देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
संदेशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २५—२७)

जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपाल जन आदरपूर्वक मस्तकपर चढ़ाते हैं ऐसे पृथ्वीके आभूषणरूप पद्म, यव, अंकुशादि अपूर्व रेखाओंसे अङ्कित श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको गोकुलमें प्रवेश करते समय अक्रूरजीने देखा।

उनको देखते ही आह्लादसे व्याकुलता बढ़ गयी, प्रेमसे शरीरमें रोमाञ्च हो आये, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगे। अहो! यह प्रभुके चरणोंकी धूलि है—ऐसे कहते हुए रथसे उतरकर अक्रूरजी वहाँ लोटने लगे।

देहधारियोंका यही एक प्रयोजन है कि गुरुके उपदेशानुसार निर्दम्भ, निर्भय और विगतशोक होकर भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिका दर्शन और उनके गुणोंका श्रवणादि करके अक्रूरकी भाँति हरिकी भक्ति करें।

गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगके अभिमानको त्यागनेवाले उद्धवकी तरह प्रेममें विह्वल होनेपर भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

एक पलको प्रलयके समान बितानेवाली रुक्मिणीके सदृश श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये हार्दिक विलाप करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

महात्माओंकी आज्ञामें तत्पर हुए राजा मयूरध्वजकी तरह मौका पड़नेपर अपने पुत्रका मस्तक चीरनेमें भी नहीं हिचकनेवाले प्रेमी भक्तको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीनरसी मेहताकी तरह लज्जा, मान, बड़ाई और भयको छोड़कर भगवान्‌के गुण-गानमें मग्न होकर विचरनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

'बी० ए०' 'एम्० ए०' 'आचार्य' आदि परीक्षाओंकी जगह

भक्त प्रह्लादकी तरह नवधा भक्तिकी * सच्ची परीक्षा देनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ।

भगवान् केवल दर्शन ही नहीं देते वरं द्रौपदी, गजेन्द्र, शबरी, विदुरादिकी तरह प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुओंको वे स्वयं प्रकट होकर खा सकते हैं ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्कामप्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

अतएव सबको चाहिये कि परम प्रेम और उत्कण्ठाके साथ भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल हों ।

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको उनके समर्पण कर देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति है ।'

भक्त बननेका सरल साधन

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं, किंतु भक्तियोग सबसे सुगम होनेके कारण मनुष्योंके लिये सर्वोत्तम है; क्योंकि भक्तियोगमें स्त्री, पुरुष, बालक और सभी वर्ण-आश्रमके मनुष्योंका अधिकार है और सबके लिये यह सहज भी है (गीता ८ । १४) । कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे उसका भी शीघ्र उद्धार हो जाता है । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है—अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इसी प्रकार जातिसे भी नीच-से-नीचका उद्धार हो सकता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

'अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

जिसकी मृत्यु निकट आ पहुँची है, भक्तिके प्रतापसे उसे भी तत्क्षण परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। गीतामें कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८ । ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

यदि कहें कि बिना ज्ञानके कल्याण नहीं हो सकता, सो ठीक है; किंतु भगवान्की भक्तिके प्रभावसे उसको ज्ञानकी प्राप्ति भी भगवत्कृपासे हो जाती है ।

गीतामें स्वयं भगवान्ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १० । १०-११)

'निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले उन भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं । अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि मनुष्योंके लिये भगवान्की प्राप्ति बहुत ही सुगम है, चाहे वे जाति और आचरणोंसे नीच तथा चाहे जैसे भी मूर्ख क्यों न हों ! भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होना चाहिये,

फिर उनका भक्तिके प्रभावसे सुगमतापूर्वक शीघ्र उद्धार हो सकता है।

गीता, रामायण और भागवत आदि ग्रन्थोंमें भगवद्भक्तिकी जितनी महिमा मिलती है, उतनी और किसी भी साधनकी नहीं मिलती। इसलिये सर्वोपयोगी समझकर भक्तिका साधन करनेके लिये भलीभाँति परिश्रम करना चाहिये। यों तो सभी युगोंमें सदा ही भक्तिका साधन सुगम बतलाया गया है, किंतु कलियुगमें तो इसकी और भी विशेष महिमा गायी गयी है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥
(श्रीमद्भा० ११।५।३६)

'कलियुगमें केवल नाम-संकीर्तनसे ही सारे स्वार्थ और परमार्थ प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये उस युगका गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुगका बड़ा आदर करते हैं।'

इन सब बातोंसे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति कलियुगमें बहुत ही सुगमतासे शीघ्र हो सकती है।

हमलोगोंपर ईश्वरकी बड़ी कृपा है कि हमलोगोंका उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम जाति और उत्तम धर्ममें जन्म हुआ। और भी हमपर ईश्वरकी यह विशेष कृपा है कि हमें ऐसे कलिकालमें समय-समयपर सत्सङ्ग और स्वाध्याय करनेका अवसर भी मिल जाता है। आत्मोद्धारके लिये तीनों लोकोंमें यह पृथ्वी उत्तम है और पृथ्वीमें भी यह भारतभूमि सर्वोत्तम मानी गयी है। पूर्वकालमें

समस्त पृथ्वीके लोग इस भारतभूमिमें आकर ही शिक्षा लिया करते थे। इसलिये मनु महाराजने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(२। २०)

'इस देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पाससे अखिल भूमण्डलमें निवास करनेवाले सभी मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा लिया करें।'

हमलोगोंका जन्म और निवास उसी भारतभूमिमें है। अभी काल भी हमलोगोंके लिये बहुत ही उत्तम है। कलियुग समस्त दोषोंकी खान होते हुए भी इसमें यह एक विशेष गुण है कि इसमें भगवान्‌की भक्तिसे मनुष्यका अनायास ही उद्धार हो जाता है। श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥
(स्क० मा०, कुमा० ३५। ११५)

'कलियुग समस्त दोषोंका खजाना है; साथ ही इसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो। इसमें थोड़े ही समयतक साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
(रा० च० मा०, उत्तर० १०३ क)

मनुष्य-शरीरमें ही परमात्मप्राप्तिका मुख्यतया अधिकार है। इसलिये शास्त्रोंमें जगह-जगह मनुष्य-शरीरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
(रा० च० मा०, उत्तर० ४२।४)

धर्म भी जितने हैं, उनमें वैदिक सनातनधर्म अनादि और सर्वोत्तम है। यों तो धर्मके नामसे संसारमें बहुत-से मत-मतान्तर प्रचलित हैं; किंतु जिनको करोड़ों मनुष्य मानते हों ऐसे चार ही धर्मके नामसे इस समय विशेष प्रचलित हैं। हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, मुस्लिमधर्म और ईसाईधर्म। इनपर विचार करके देखनेसे जो वैदिक सनातन हिंदूधर्म है, वही सबसे पहलेका सिद्ध होता है। श्रीगौतमबुद्धका प्रचलित किया हुआ बौद्धधर्म करीब ढाई हजार वर्षसे है, क्योंकि इसके प्रचारक स्वयं बुद्धदेवको हुए करीब इतना ही समय हुआ है। ईसाईधर्म भी दो हजार वर्षके अंदर ही प्रचलित हुआ सिद्ध होता है; क्योंकि इसके प्रचारक जो संत ईसा हैं, उन्हें हुए १९६४ वर्ष ही हुए हैं। इस्लामधर्मका मूलग्रन्थ जो कुरानशरीफ है, उस कुरानके प्रकाशक हजरत मुहम्मदको हुए भी करीब चौदह सौ वर्ष हुए हैं। किंतु वैदिक सनातनधर्मके कालका कोई भी निर्णय नहीं कर सकता कि यह कितने वर्षोंसे है; क्योंकि यह अपौरुषेय और अनादि है। संसारमें जितने भी मत-मतान्तर धर्मके नामसे प्रचलित हैं, उन सभी धर्मवालोंको इस वैदिक धर्मसे ही मदद मिली है। मनुष्योंकी बुद्धियाँ विचित्र

होनेके कारण नाना प्रकारके मत-मतान्तर और सम्प्रदायोंकी सृष्टि हो गयी; अतः श्रुति-स्मृतिकथित जो सनातनधर्म है, इसे ही सर्वोत्तम कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। हमारे इस धर्मके मूल मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद हैं; उनकी अनेक शाखाएँ थीं, जिनमेंसे बहुत-सी विधर्मियोंद्वारा नष्ट कर दी गयीं। फिर भी मूलभूत मन्त्र और ब्राह्मण-भाग आज भी प्राप्त है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारों संहिताओंको मन्त्रभाग कहते हैं तथा ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ ब्राह्मण आदि एवं और भी अधिकांश उपनिषद् ब्राह्मणभाग हैं। यह वैदिक धर्म अनादिकालसे चला आता है, इसीलिये इसको सनातनधर्म माना गया है। ऐसे सनातनधर्मके माननेवाले मनुष्योंमें हम लोगोंका जन्म हुआ है।

इसके सिवा, हमें जो समय-समयपर सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, यह भगवान्‌की विशेष दया है। श्रीस्कन्दपुराणमें कहा है—

तदैव जीवस्य भवेत्कृपा विभो
दुरन्तशक्तेस्तव विश्वमूर्ते।
समागमः स्यान्महतां हि पुंसां
भवाम्बुधिर्येन हि गोष्पदायते॥
सत्सङ्गमो देव यदैव भूयात्
तर्हीश देवे त्वयि जायते मतिः।
(स्क० वै० वै० मा० १६।१८-१९)

'प्रभो! विश्वमूर्ते! जीवपर जब आप अनन्तशक्ति परमेश्वरकी कृपा होती है, तभी उसे महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होता है, जिससे

निश्चय ही यह संसारसमुद्र गोपदके समान हो जाता है; तथा देव! परमेश्वर! जब सत्सङ्ग मिलता है, तभी आप परम देवमें निश्चयपूर्वक श्रद्धा होती है।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥
(रा० च० मा०, उत्तर० ६८।४)

तथा भक्त विभीषणने हनुमान्‌जीसे कहा है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥
(रा० च० मा०, सुन्दर० ६।२)

इस प्रकार भगवान्‌की दयासे सब संयोग मिल जानेपर भी हमलोग भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित रह जायँ तो यह हमारे लिये बहुत ही दुःख और लज्जाकी बात है! श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(रा० च० मा०, उत्तर० ४४)

अतएव हमलोगोंको इस अमूल्य मनुष्य-जीवनको पाकर शरीर और संसारसे मोह हटाकर तन-मन-धनसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये, नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
(रा० च० मा०, उत्तर० ४३)

इन सब बातोंको सोचकर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके लिये शीघ्रातिशीघ्र साधनमें लग जाना चाहिये; क्योंकि मृत्युका

कोई भरोसा नहीं, न मालूम किस समय आकर प्राप्त हो जाय ।

हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि भगवान् ही हमारे जीवनके आधार हैं, भगवान्‌के बिना संसारमें हमारे उद्धारका कोई उपाय नहीं है । हम भगवान्‌के बिना जी नहीं सकते । इस प्रकारकी अत्यन्त आवश्यकता समझनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है । जो इस प्रकार समझता है, वह भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी भगवान्‌को भुला नहीं सकता । जैसे राजा उत्तानपादके पुत्र भक्त ध्रुव ध्यानमें मग्न थे, उस समय राक्षसोंके अनेकों विघ्न करनेपर भी वे विचलित नहीं हुए, वरं भगवान्‌के ध्यानमें ही मस्त रहे । तब भगवान्‌ने उनको शीघ्र ही दर्शन दे दिये । ध्रुवजीको सत्ययुगमें जप, तप और ध्यानके तीव्र अभ्याससे साढ़े पाँच महीनेमें भगवान् मिले; किंतु इस कलिकालमें तो उस प्रकारका जप, तप और ध्यान करनेपर और भी शीघ्र भगवान् मिल सकते हैं । श्रीस्कन्दपुराणमें बतलाया है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे ।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः ॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे ।*

(स्क० ब्रा० से० मा० ४३ । ३-४)

'सत्ययुगमें दस वर्षोंतक साधन करनेसे मनुष्य जिस पुण्यका संग्रह करते हैं, त्रेतामें उसी पुण्यको एक वर्षमें सिद्ध कर लेते हैं

* इसी आशयका श्रीविष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायका १५वाँ श्लोक भी है ।

और द्वापरमें उसीको एक मासमें एवं कलियुगमें उसे एक दिनमें ही सिद्ध कर लेते हैं।'

त्रेतायां वार्षिको धर्मो द्वापरे मासिकः स्मृतः।
यथाक्लेशं चरन् प्राज्ञस्तदह्ना प्राप्यते कलौ॥
(स्क० मा० कुमा० ३५। ११७)

'त्रेतामें एक वर्षतक तथा द्वापरमें एक मासतक क्लेश-सहनपूर्वक धर्मानुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको जो फल प्राप्त होता है, वह कलियुगमें एक दिनके अनुष्ठानसे मिल जाता है।'

इस प्रकार यदि हिसाव लगाकर देखा जाय तो इस कलियुगमें ध्रुवकी तरह साधन करनेपर करीव तीन घड़ीमें ही भगवान् मिल जाने चाहिये। यदि कहें कि 'हम उनकी तरह श्वास रोकनेमें असमर्थ हैं, तो ठीक है; आपको तीन घड़ीके स्थानमें बिना श्वास रोके साधन करनेसे भी तीन दिनमें तो मिल ही जाने चाहिये। यदि कहें कि 'हम तीन दिनतक एक पैरसे खड़े भी नहीं रह सकते तो ठीक है, ऐसी अवस्थामें आपको बैठकर साधन करनेपर तीन दिनकी जगह छः दिनमें तो मिलने ही चाहिये। यदि आप मल-मूत्रका अवरोध तथा भूख-प्यास और निद्राका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते तो इन सबका त्याग न करके भी आठ पहरमें केवल एक बार दूध, फल खाकर ही ध्रुवकी तरह नामका जप, स्वरूपका ध्यान निरन्तर करें तो भी ध्रुवके जितने समयमें तो भगवान् मिलने ही चाहिये; नहीं तो फिर कलि-युगकी क्या विशेषता रही। इस कलियुगमें इतनी छूट तो है ही। श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

पय अहार फल खाइ जपु रामनाम षट मास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥

(दोहावली ५)

'छः महीनेतक केवल दूधका आहार करके अथवा फल खाकर रामनामका जप करो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसा करनेसे सब प्रकारके सुमङ्गल और सब सिद्धियाँ करतलगत हो जाती हैं अर्थात् अपने-आप ही मिल जाती हैं।'

इसमें प्रधान बात यह है कि और कुछ भी न बन सके तो छः महीनेतक लगातार भजन-ध्यानका तार तो टूटना ही नहीं चाहिये तथा वह भजन-ध्यान सकाम यानी सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं, केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे होना चाहिये।

यह छः महीनेकी बात हमारे श्रद्धा-प्रेमकी कमीका ही दिग्दर्शन है, नहीं तो भगवान्‌में विशुद्ध और अनन्य प्रेम होनेसे तो निद्रा, भूख और प्यासकी परवा ही नहीं होती तथा फिर उसे भगवान्‌के सिवा किसी दूसरी चीजकी तो बात ही क्या, अपने देहकी भी सुध-बुध नहीं रहती। ऐसी दशा होनेपर तो भगवान् विलम्ब नहीं कर सकते, उसी समय मिल सकते हैं, क्योंकि भगवान्‌के मिलनेमें कालका नियम नहीं है, केवल मिलनेकी तीव्र लगन और उत्कट इच्छा होनी चाहिये।

लगन लगन सब कोइ कहै लगन कहावै सोइ।
नारायन जिस लगनमें तन मन दीजै खोइ॥

सगरवंशी महाराज विश्वसहके पुत्र राजा खट्वाङ्गकी बात श्रीमद्भागवतमें आती है। जब उन्होंने देवताओंसे पूछा कि 'मेरी आयु कितनी शेष है' तब देवताओंने कहा कि 'तुम्हारी आयु दो घड़ी ही बाकी है।' यह सुनकर राजा सब कामोंको छोड़कर परमात्माके ध्यानमें तन्मय हो गये और इस प्रकारकी उनकी तीव्र लगनसे दो घड़ीमें ही वे भगवान् श्रीहरिको प्राप्त हो गये।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये बहुत समयकी आवश्यकता नहीं है, केवल परमात्माके मिलनकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये, तीव्र इच्छा होनेके साथ ही परमात्मा मिल जाते हैं, विलम्ब नहीं करते। उदाहरणके लिये, कोई आदमी पैर फिसल जानेसे नदीके पानीमें डूब जाय और तैरना न जानता हो तो वह बाहर निकलनेके लिये बहुत आतुर हो जाता है, छटपटाने लगता है और उस समय उसे बाहरका ही लक्ष्य लगातार बना रहता है, उसकी यह बाहर निकलनेकी जो छटपटाहट है, इसीका नाम तीव्र इच्छा है। इसी प्रकार जिसकी संसार-सागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छा हो जाती है तथा जिसके परमात्माका ही निरन्तर लक्ष्य होता है, उसका स्वयं भगवान् तुरंत भवसागरसे उद्धार कर देते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२।७)

'अर्जुन! मुझमें चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

उपर्युक्त तीव्र लगन और उत्कट इच्छा श्रद्धापूर्वक अनन्य विशुद्ध प्रेमसे ही होती है। जब साधकका भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम हो जाता है, तब उसको तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। अनन्य प्रेमका लक्षण यह है कि वह प्रेमास्पदके वियोगको सहन न कर सके, वह भगवान्‌के विरहमें भरतजीकी भाँति व्याकुल हो जाय और भगवान्‌के वियोगमें उसके प्राण जानेकी तैयारी हो जाय। श्रीतुलसीदासजीने भरतजीकी दशाका वर्णन करते हुए कहा है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
(रा० च० मा०, उत्तर० १ क)

प्रेमास्पदके वियोगमें इस प्रकारकी विरह-व्याकुलता हो जानेपर फिर भगवान्‌के आनेमें विलम्ब नहीं होता। अतः जैसे मछली जलके वियोगमें जलके लिये तड़फड़ाती है, उसी प्रकारकी तड़पन हमलोगोंमें भगवान्‌के लिये होनी चाहिये। यदि कहें कि 'मछली तो जलके वियोगमें तड़पकर मर जाती है, किंतु उसे जल आकर नहीं मिलता' सो ठीक है। पर जल तो जड है, भगवान् जलकी तरह जड नहीं हैं; वे चेतन तथा परम प्रेमी और दयालु हैं, वे भला कैसे रुक सकते हैं। उनकी तो यह प्रतिज्ञा है कि 'जो मुझे जैसे भजते हैं, उन्हें मैं वैसे ही भजता हूँ (गीता ४। ११)।'

जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको, जबतक चन्द्रमा छिपता नहीं, तबतक एकटक देखता ही रहता है, उसी प्रकार भगवान्‌का नित्य-निरन्तर ध्यान करनेसे भगवान् सहजमें ही मिल जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

यदि कहें कि 'चकोर पक्षीके तो चन्द्रमा प्रत्यक्ष ही सम्मुख है, इसलिये उसे सुगमता है' सो ठीक है, किंतु श्रद्धा-भक्ति हो तो हमारे लिये भी भगवान् प्रत्यक्ष ही हैं और यदि श्रद्धा-भक्ति नहीं है तो प्रत्यक्ष और निकट होनेपर भी दूर ही हैं । जब भगवान् श्रीकृष्ण मौजूद थे, उस समय जिनकी उनमें श्रद्धा-भक्ति नहीं थी, ऐसे दुर्योधनादिके लिये भगवान् मौजूद और निकट रहते हुए भी दूर ही थे, प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त थे, किंतु ध्रुव आदिके अप्राप्त और दूर होते हुए भी भगवान्में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके कारण निकट ही थे । अतः जिस प्रकार ध्रुवजीने देवर्षि नारदजीके वचनोंको लक्ष्य बनाकर ध्यान किया, उसी प्रकार हमलोगोंको गीता, रामायण और भागवत आदि ग्रन्थों तथा महात्माओंके वचनोंके अनुसार लक्ष्य बनाकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ध्यान करना चाहिये एवं भगवान्के ध्यानरूप अपने उस लक्ष्यको भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी पपीहेकी भाँति नहीं छोड़ना चाहिये । यद्यपि सभी बादल नहीं बरसते, किंतु पपीहा साधारण बादलको देखकर भी 'पिउ-पिउ' करने लगता है और उन बादलोंमेंसे ही कोई बरस भी जाता है ।' इसी प्रकार हमलोगोंको

भी भगवान्के भक्तोंको देखकर भगवान्के मिलनेकी इच्छा और आशा रखनी चाहिये। जब पपीहेपर ओले पड़ते हैं और उसके पंख टूट जाते हैं, तब भी वह अपनी टेकको नहीं छोड़ता और बूँदकी आशा लगाये रहता है, इसी प्रकार हमलोगोंको भारी कष्ट पड़नेपर भी भगवान्के स्वरूपका लक्ष्य नहीं छोड़ना चाहिये और भगवत्प्राप्तिरूप बूँदकी आशा लगाये रहना चाहिये। पपीहेका यह नियम है कि चाहे उसके प्राण भले ही चले जायँ, वह बादलोंसे बरसते हुए बूँदको ही ग्रहण करता है, दूसरे जलकी कभी इच्छा ही नहीं करता; इसी प्रकार हमें भगवान्की प्राप्तिके अतिरिक्त संसारके अन्य भोगोंकी कभी इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। इस प्रकारकी तीव्र इच्छा और आवश्यकता होते हुए भी पपीहेको तो शायद जल न भी मिले, किंतु भगवान् तो तीव्रतम इच्छावाले साधकको अवश्य ही मिलते हैं; क्योंकि पपीहेको तो जलकी आवश्यकता है, पर जड होनेके कारण जलको तो पपीहेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जिस प्रकार भक्त भगवान्के लिये आतुर है, भगवान् भी भक्तके लिये वैसे ही आतुर हैं। भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

इसके सिवा भगवान्ने यह भी कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है

और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

जो ज्ञानी भक्त भगवान्‌को निष्काम प्रेमभावसे भजता है और भगवान् जिसे अत्यन्त प्यारे हैं, भगवान्‌को भी वह अत्यन्त प्यारा है, यह भगवान्‌की घोषणा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(गीता ७ । १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

अतएव हमें भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होनेके लिये श्रद्धा-भक्तिपूर्वक ध्यानका नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे अभ्यास करना चाहिये ।

हमें या तो हर समय इस प्रकार भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये कि 'जैसे वायु, तेज, जल, पृथ्वीके अंदर आकाश व्याप्त है, इसी प्रकार सबमें भगवान् व्यापक हैं और सब कुछ भगवान्‌के एक अंशमें है ।' गीतामें बतलाया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता

है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

भगवान्‌के बतलाये हुए इस उपर्युक्त साधनको निरन्तर उत्साहके साथ करना चाहिये। अथवा वस्तुमात्रको भगवान्‌का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्‌की लीला समझ-समझकर हर समय आनन्दमें मुग्ध होना चाहिये; क्योंकि संसारमें जो कुछ भी वस्तु है, स्वयं भगवान् ही उसके रूपमें बने हैं। उपनिषदोंमें बतलाया गया है कि पहले एक भगवान् ही थे, फिर उनमें यह इच्छा हुई कि 'मैं बहुत हो जाऊँ'—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। (तैत्तिरीय० २। ६) तब भगवान् स्वयं ही अनेक रूप हो गये। द्वापरयुगमें जब ब्रह्माजीने ग्वाल-बालों और बछड़ोंको ले जाकर गुफामें छिपा दिया था, उस समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें प्रकट हो गये और लीला करने लगे। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

(१०। १३। १९)

'जितने बछड़े और ग्वाल-बाल थे, जैसे उनके छोटे-छोटे शरीर थे, जैसे हाथ-पैर आदि अङ्ग थे, जैसी और जितनी उनकी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे, जैसे और जितने उनके वस्त्र-आभूषण थे, जैसे उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति और अवस्थाएँ थीं और जैसा उनका चलना-फिरना आदि था; ठीक वैसे-के-वैसे ही और उतने ही रूपोंमें सर्वस्वरूप अजन्मा भगवान् सुशोभित

हुए। उस समय 'यह सब जगत् विष्णुमय है'—यह वेद-वाणी मानो मूर्तिमती होकर प्रकट हो गयी।'

इसी प्रकार हमें पदार्थमात्रको भगवान्का स्वरूप और चेष्टामात्रको भगवान्की लीला समझकर क्षण-क्षणमें आनन्दमें मुग्ध होना चाहिये। भक्तोंके लिये यह साधन बहुत ही उत्तम और सरल है।

जैसे नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा लगा लेनेपर सारा संसार हरे रंगका दीखने लग जाता है, इसी प्रकार हृदयरूपी नेत्रपर 'श्रीहरि'के भावका चश्मा लगानेसे सारा संसार वस्तुतः भगवान् श्रीहरिके रूपमें ही दीखने लग जाता है। हरे रंगके चश्मेकी अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि संसार तो विभिन्न रंगोंवाला है, चश्मेके प्रभावसे हमें हरा रंग प्रतीत होता है, पर यह संसार तो वास्तवमें श्रीहरिका रूप ही है, अज्ञानके कारण हम इस रहस्यको नहीं समझते, इसीलिये हमें श्रीहरि संसारके रूपमें दीख रहे हैं, वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही थे और भगवान् ही हैं।

गीतामें भी सबमें परमात्मबुद्धि होनेकी बड़ी महिमा गायी गयी है। भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यह साधन बहुत ही उत्तम है। अतएव हमलोगोंको सबमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये, इस अभ्याससे भी भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। छान्दोग्य उपनिषद्‌की कथा है। महर्षि उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे पूछा कि 'तूने वह विद्या सीखी या नहीं, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है?' इसपर उसने कहा—'वह विद्या तो मेरे गुरुदेव भी नहीं जानते थे, यदि जानते तो वे मुझे अवश्य बतलाते; अब कृपया आप ही बतलाइये।' तब उद्दालकने बतलाया कि 'जिस प्रकार एक सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णसे बने हुए सारे आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है, जितने भी भिन्न-भिन्न नाम, रूप और आकृतिवाले नाना प्रकारके आभूषण हैं, वह सब सोना ही है।' इसी प्रकार परमात्माका तत्त्व समझ लेनेपर उसके लिये सब कुछ परमात्मा ही प्रतीत होने लगते हैं। जैसे जलके तत्त्वका ज्ञान होनेपर बादल, भाप, कुहरा, बूँद, बर्फ आदि सभीमें एक जल-ही-जल प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेपर समस्त संसारमें परमात्मा ही प्रतीत होने लग जाते हैं। भेद और अभेद दोनों ही सिद्धान्तोंको माननेवालोंने इस बातको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि अभेद-उपासक तो यों समझते हैं कि 'जो कुछ है सो ब्रह्म है और मैं भी ब्रह्म ही हूँ।' तथा भेदोपासकगण यह समझते हैं कि 'जो कुछ है सो ब्रह्म है और मैं उसका सेवक हूँ।' बस, इस विषयमें उन दोनोंका इतना ही अन्तर है। अधिकारी-भेदके अनुसार दोनों प्रकारकी साधनाएँ ही उत्तम हैं। श्रीरामचरितमानसका वर्णन है, किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामने भक्तिकी दृष्टिसे भक्त हनुमान्‌से कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥
(रा० च० मा०, किष्किन्धा० २ । ४; ३)

सर्वसाधारणके लिये यह भक्तिका मार्ग सरल और सुगम होनेसे उत्तम है। भक्तिमार्गके सभी कोई अधिकारी हो सकते हैं, चाहे वे जातिसे हीन, मूर्ख और पापी ही क्यों न हों; केवल भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम होना चाहिये। भगवान् तो केवल प्रेमको ही देखते हैं। शबरी न तो कुछ विशेष पढ़ी-लिखी थी और जातिसे भी अत्यन्त हीन थी। उसने स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है—

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी ॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥

—इसपर भगवान्‌ने यही कहा कि—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ॥
(रा० च० मा०, अरण्य० ३४ । १-२)

भगवान्‌ने उसके प्रेमभावको देखकर उसकी कुटियापर जाकर उसके हाथसे दिये हुए फल खाये। धन्य है दयामय प्रभुकी इस अहैतुकी दयाको!

जिनके हृदयमें न श्रद्धा-प्रेम है और न विश्वास है, उनसे न तो असली भजन ही हो सकता है और न उन्हें भगवान् ही शीघ्र मिल सकते हैं। अतः हमलोगोंको भगवान्‌के गुण और स्वभावकी ओर देखकर भगवान्‌के मिलनेकी पूरी आशा रखकर प्रतिक्षण उनकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। मनमें यह दृढ़ विश्वास रखना

चाहिये कि भगवान् हैं, बहुतोंको मिले हैं, मिलते हैं और हमें भी निश्चय ही मिलेंगे। वे हमारे अवगुणोंकी ओर नहीं देखेंगे; उनका हृदय बहुत ही कोमल, सरल तथा दया और प्रेमसे भरा हुआ है। वे सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमात्मा सब जगह सदा ही मौजूद हैं, भक्तका श्रद्धा-प्रेम होनेके साथ ही वे प्रकट हो जाते हैं।

रामचरितमानसमें श्रीशिवजीने कहा है—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा० च० मा०, बाल० १८४। ३)

इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके शबरीकी भाँति प्रतिक्षण भगवान्‌की विश्वासपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार प्रतीक्षा करनेसे भगवान् शीघ्र ही मिल सकते हैं; किंतु यदि इसके विपरीत संशययुक्त भावना होती है कि 'क्या पता, भगवान् हैं या नहीं', 'पहले किसीको मिले हैं या नहीं', 'अब मिलते हैं या नहीं और मुझे मिलेंगे या नहीं' तो उसे भगवान्‌का प्राप्त होना कठिन है; क्योंकि ऐसे अश्रद्धालु संशयग्रस्त अज्ञानीके लिये भगवान्‌की प्राप्ति तो दूर रही, उसके लिये तो न यह लोक है और न परलोक ही। भगवान् कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता ४। ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

क्योंकि जिसको भगवान्‌की प्राप्तिमें संशय है, उससे न तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये प्रयत्न ही होता है और न आशा-प्रतीक्षा ही; फिर उसका मन भगवान्‌में लग ही कैसे सकता है ? इसलिये हमलोग चाहे जैसे भी अधम, पापी, अज्ञानी, मूर्ख क्यों न हों, हमें भगवान्‌में अटल श्रद्धा-विश्वास करके उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हो जाना चाहिये। वे परमप्रेमी और दयालु भगवान् हमलोगोंके अवगुणोंकी ओर नहीं देखते। भरतजीने कहा है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरें जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
(रा० च० मा०, उत्तर० प्रारम्भकी चौ०)

इस आधारपर भगवान्‌के विरदकी ओर ध्यान देकर हमें निश्चय रखना चाहिये, भगवान् हमारी ओर न देखकर अवश्य हमें अपनायेंगे और दर्शन देंगे।

भक्त पद्मनाभ ब्राह्मण इसी भावसे भावित होकर मन-ही-मन ऐसा सोचा करते हैं कि 'भगवान् मुझे अवश्य ही मिलेंगे, मैं उनके चरणोंपर लोटूँगा, अपने प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण भिगो दूँगा और वे मुझे उठाकर अपने हृदयसे लगा लेंगे। तब मैं आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता रहूँगा। जब वे कहेंगे कि वरदान माँगो, तब मैं कहूँगा कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, मैं तो आपकी सेवा करूँगा और आपको देखता रहूँगा।' इस प्रकार मन-ही-मन वे विचारते रहते और आनन्दमें निमग्न हो जाते। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो जाता और आँखोंसे आँसू गिरने लगते। उनकी यह प्रेममुग्ध-

अवस्था बहुत समयतक रहा करती थी। उनके ऐसे श्रेष्ठ भाव और उत्कट प्रेमको देखकर भगवान्‌ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये। उस समय सारा स्थान भगवान्‌की दिव्य अङ्ग-ज्योतिसे जगमगा उठा। भक्त पद्मनाभको हजारों सूर्योंके समान दिव्य प्रकाश और उनके भीतर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान् श्रीविष्णुके दर्शन हुए। भक्त पद्मनाभका हृदय शीतल हो गया। उनकी आँखें निर्निमेष होकर उन अखिलर सामृतसागर भगवान्‌के रूप-रसका पान करने लगीं। भक्तिका साधन करनेवालोंके लिये यह बहुत ही सरल और रहस्यमय साधन है। इसलिये प्रेमी भक्तोंको भक्त पद्मनाभका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान्‌की उपासनाके लिये जितने भी सेवन करने योग्य पदार्थ बताये गये हैं, उनमें चार प्रधान हैं—भगवान्‌के दिव्य नाम, रूप, लीला और धाम। इन चारोंमें प्रत्येकमें गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझना चाहिये। तथा कम-से-कम कान, नेत्र, मन और वाणी—इन चार मुख्य द्वारोंसे तो उपर्युक्त चारोंका सेवन अवश्य ही करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कानोंके द्वारा भगवद्भक्तोंसे श्रवण करना, नेत्रोंके द्वारा सत्-शास्त्रोंमें पढ़ना, फिर मनसे इनका मनन करना तथा वाणीके द्वारा इनका कीर्तन करना और भगवद्भक्तोंमें इनका कथन करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक इन चारोंका सेवन करनेसे परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परम आनन्द और परम शान्ति, असीम समता तथा परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अब संक्षेपमें नाम, रूप,

लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य बतलाये जाते हैं ।*

क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, ज्ञान, समता, सरलता आदि जो परमात्माके अनन्त दिव्य गुण हैं, वही सब उनके नामके अंदर भी भरे हुए हैं । जैसे वटके बीजको भूमिमें बोकर जल सींचनेसे वटका वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌के नामरूपी बीजको हृदयरूपी भूमिमें बोकर सत्सङ्ग और स्वाध्यायरूप जल सींचनेसे दिव्य भगवद्‌गुण-रूप वृक्ष उत्पन्न हो जाता है । अभिप्राय यह कि नामके जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे उपासकके हृदयमें भगवान्‌के दिव्य गुण स्वाभाविक ही प्रकट हो जाते हैं । ये नामके गुण बतलाये गये ।

नामका जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे समस्त पापोंका, अहंता-ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि समस्त दुर्गुणोंका, झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत आदि दुराचारोंका तथा सम्पूर्ण दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं उपासकमें स्वाभाविक ही सद्‌गुण-सदाचार आदिका आविर्भाव होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । यह नामका प्रभाव है ।

भगवान्‌का नाम भगवान्‌से अभिन्न है, भगवान्‌का स्वरूप, उनका ज्ञान और उनका नाम—यह सब एक ही है । वस्तुतः भगवान् ही स्वयं नामके रूपमें प्रकट होते हैं । इस प्रकार समझना ही नामके तत्त्वको समझना है ।

वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौ गुना

---

* इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिये इसी पुस्तकमें 'नाम-रूप-लीला-धाम' शीर्षक लेख देखना चाहिये ।

अधिक फलदायक है और वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला है। जो इस रहस्यको समझ लेता है, वह कभी भगवन्नाम-जपकी ओटमें पाप नहीं करता। यह भगवन्नामका रहस्य है।

भगवान्‌का रंग, रूप, आकृति बहुत ही कोमल, लावण्यमय, रसमय, परम आकर्षक, कान्तिमय, अलौकिक, चमकदार, सुन्दर और अद्‌भुत है; और उनमें निरतिशय अत्यन्त विलक्षण क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, न्याय, समता, मधुरता, सरलता, उदारता आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। ये भगवत्स्वरूपके गुण हैं।

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, महिमा, सम्भवको असम्भव और असम्भवको सम्भव करनेकी सामर्थ्य आदि भगवान्‌का अपरिमित प्रभाव है। भगवान्‌के स्वरूपके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और स्मरणमात्र-से सम्पूर्ण पापों, दुःखों और दुर्गुण-दुराचारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं भक्तमें स्वाभाविक ही समस्त सद्‌गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यह भगवान्‌का प्रभाव बतलाया गया।

जिस प्रकार परमाणु, भाप, कुहरा, बादल, बूँद, ओला और बर्फ आदि सब तत्त्वसे जल ही हैं, इसी प्रकार सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण आदि जो कुछ भी है और जो इससे परे है, वह सब तत्त्वतः एक भगवान् ही है। यह भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्व है।

वे निर्गुण-निराकार परमात्मा ही सगुण-साकाररूपमें प्रकट

होते हैं, इस रहस्यको उनकी कृपाके बिना ऋषि और देवतागण भी नहीं जानते, क्योंकि वे अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं। उनका स्वरूप अचिन्त्य, असीम और दिव्य है, वे स्वयं आप ही अपने-आपको जानते हैं तथा जिसको वे कृपा करके जनाना चाहते हैं, वही जान सकता है। द्वापरयुगमें जब ब्रह्माजी ग्वाल-बाल और बछड़ोंको चुराकर ले गये, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ही उन ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें बन गये— इस रहस्यको बलदेवजी भी स्वयं नहीं समझ सके, जब भगवान्ने बलदेवजीको यह रहस्य समझाया, तभी समझे। उस समय ग्वाल-बाल और बछड़ोंके रूपमें भगवान् ही थे, इसे कोई नहीं जानता था, यह भगवान्के स्वरूपका रहस्य है।

जब रावणसे तिरस्कृत होकर विभीषण भगवान् श्रीरामकी शरणमें आया, उस समय भगवान्ने उनके साथ शरणागतवत्सलता, उदारता, दया और प्रेम आदिसे युक्त सुहृदताका व्यवहार किया, भगवान्के व्यवहारके इस प्रकारके गुणोंको देखना ही भगवान्की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डका वर्णन है कि धनुष-भङ्गके अनन्तर श्रीपरशुरामजी पधारे और अन्तमें उन्होंने कहा कि—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

(रा० च० मा०, बाल० २८३।४)

इस प्रकार बिना ही परिश्रम भगवान्के केवल छूनेमात्रसे ही धनुषका अपने-आप ही चढ़ जाना, यह भगवान्की लीलाका प्रभाव

है तथा भगवान्‌की लीलाके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझते हुए उनकी लीलाका दर्शन, चिन्तन, पठन, श्रवण, कीर्तन और अनुकरण करनेसे मनुष्यका उद्धार हो जाता है, यह भी भगवान्‌की लीलाका प्रभाव है ।

जब ब्रह्माजी ग्वाल-बाल और बछड़ोंको चुराकर ले गये थे, उस समय स्वयं भगवान्‌ने ही उन ग्वाल-बाल और बछड़ोंका रूप धारण करके सालभरतक क्रीड़ा की। लीलासे ही भगवान् एक क्षणमें अनेक रूप हो गये, अनेक रूप धारण करनेकी इस लीलाको भगवान्‌का स्वरूप समझना भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है; क्योंकि कर्ता, कर्म, क्रिया—जो भी कुछ है, वह सब तत्त्वतः-भगवान् ही है । इसी प्रकार वर्तमान संसारमें स्वाभाविक होनेवाली समस्त चेष्टामात्र भी भगवान्‌की लीला ही है और वह लीला उनसे अभिन्न होनेके कारण उनका स्वरूप ही है, यह समझना भी भगवान्‌की लीलाका तत्त्व समझना है ।

श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है कि भगवान् श्रीराम जब चौदह वर्षकी अवधिके पश्चात् अयोध्यामें पधारे, तब समस्त अयोध्यावासियोंकी शीघ्र ही मिलनेकी अतिशय उत्कण्ठा जानकर वे वहाँ अनन्त रूपोंमें प्रकट हो सबसे मिले——

अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सबहि कृपाला ॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना । उमा मरम यह काहुँ न जाना॥
(रा० च० मा०, उत्तर० ५ । ३-४)

भगवान् क्षणमें सबसे एक साथ मिले, किंतु यह बात एक-दूसरेको मालूम नहीं हुई । हर एक व्यक्ति यही समझता था कि

भगवान् मुझसे ही मिल रहे हैं । इस मिलन-लीलामें भगवान्के एक व्यक्तिसे मिलनेका दूसरे व्यक्तिको ज्ञान नहीं है—यह भगवान्की लीलाका रहस्य है ।

भगवान्का चिन्मय दिव्यलोक सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि, नित्य और सत्य है । वहाँ मन, बुद्धि और वाणीकी पहुँच नहीं है तथा क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, समता, न्याय आदि जो भगवान्के नित्य दिव्य गुण हैं, वे उस धाममें स्वाभाविक ही हैं; क्योंकि स्वयं भगवान् ही धामके रूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं । ये भगवद्धामके गुण कहे गये ।

जो भक्त भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधनोंके द्वारा भगवान्के परम धाममें जाते हैं, उनमें उपर्युक्त प्रायः सभी गुण पहलेसे ही स्वाभाविक ही होते हैं, किंतु यदि किसीमें किसी कारण कुछ कमी रहती है तो उसकी पूर्ति उस परम धाममें प्रवेश होनेके साथ ही उसी क्षण हो जाती है और वहाँ जाकर कोई भी वापस नहीं लौटता तथा जो उस दिव्यधाममें रहते हैं, उनके शरीर जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि दोषों तथा समस्त विकारोंसे रहित परम पवित्र होते हैं एवं वे भगवान्की भाँति ही दिव्य, चिन्मय, अलौकिक और समस्त सद्गुणोंसे युक्त होते हैं, उस धाममें जितने भी पदार्थ हैं, सब दिव्य, चिन्मय और अलौकिक हैं । यह सब भगवद्धामके प्रभावका दिग्दर्शन है ।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही परम धामके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं, इसलिये वह परम धाम परमात्माका स्वरूप ही है—यह जानना ही भगवान्के धामका तत्त्व जानना है ।

भगवान्के परम धाममें न जानी हुई वस्तु जानी जाती है,

न अनुभव की हुई अनुभव की जाती है और न देखी हुई देखी जाती है; क्योंकि वहाँ पहुँचनेपर बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि सभी दिव्य हो जाते हैं। यहाँ भगवान् और उनके धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और लीलाकी जो बातें सुनी-समझी जाती हैं, उनसे वहाँ अत्यन्त विलक्षण हैं। वहाँ जाते ही भगवान् और भगवान्का धाम वस्तुतः क्या चीज है, इसका रहस्य पूर्णतया समझमें आ जाता है। यह भगवान्के परम धामका रहस्य है।

इस प्रकार गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य समझकर साधन करनेवाले साधकको अपने इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय उसकी विलक्षण अवस्था हो जाती है, वह प्रेम, आनन्द और आश्चर्यमें मुग्ध हो जाता है। उसे भगवान्के सिवा अन्य किसीका, यहाँतक कि अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता, वह भगवान्को ही एकटक देखने लगता है, उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती। उसकी शान्तिका पारावार नहीं रहता, उसमें अलौकिक समता आ जाती है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्तस्वरूप परब्रह्म परमात्मा जैसा और जिस प्रभाववाला है, उसको वह वैसा-का-वैसा ही सम्पूर्णतया यथार्थरूपसे—तत्त्वतः जान जाता है। फिर वह समस्त संशय, भ्रम, अज्ञान, पापों और विकारोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है और उसके लिये कोई भी कर्तव्य या ज्ञातव्य शेष नहीं रहता।

अतएव हमलोगोंको भगवान्की प्राप्तिके लिये अनन्यभक्तिका साधन श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।



भगवत्कृपा

(पद-पदपर दर्शन करनेका प्रकार)

किसी भाईका प्रश्न है कि भगवत्कृपा सहैतुक होती है या निर्हैतुक ? मनुष्यको सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की दयाका दर्शन किस प्रकार करना चाहिये ?

इसके उत्तरमें मेरा निवेदन है कि भगवत्कृपाके महत्त्वको वाणीद्वारा पूर्णरूपसे वर्णन करना असम्भव है; क्योंकि भगवान्‌की दयाका महत्त्व अपार है और वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह स्वल्प ही है; भगवान्‌की कृपाके रहस्यको जो कोई महापुरुष यत्किंचित् भी समझते हैं, वे भी जितना समझते हैं उतना वाणी-द्वारा बता नहीं सकते। भगवान्‌की कृपा सब जीवोंपर सदा-सर्वदा अपार है। लोगोंका इस विषयमें जितना अनुमान है उससे भी भगवान्‌की कृपा बहुत अधिक है, इस विषयमें 'भगवान्‌की दया' शीर्षक एक लेख 'कल्याण'में पहले छप चुका है*। विषय एक होनेके कारण कुछ पुनरुक्तियाँ आ सकती हैं, तथापि दोनों लेखोंको मिलाकर पढ़नेसे भगवान्‌की दयाका महत्त्व समझनेमें अधिक सहायता मिल सकती है।

वास्तवमें भगवान्‌की दया सभी प्राणियोंपर बिना किसी कारण-के समभावसे सदा ही स्वाभाविक है, अतः उसे निर्हैतुक ही कहना चाहिये। परंतु जो मनुष्य भगवान्‌की दयापर जितना अधिक विश्वास करता है, अपनेपर जितनी अधिक दया मानता है, वह उनकी दयाका तत्त्व उतना ही अधिक समझता है तथा उसे उतना ही अधिक प्रत्यक्ष

---

* यह लेख 'कल्याण' वर्ष ५, अङ्क १२ में छपा था तथा 'तत्त्व-चिन्तामणि भाग २' (लेख-नं० १७) में भी संगृहीत है।

लाभ मिलता है; इसलिये उसको सहैतुक भी कहा जा सकता है, किंतु भगवान्‌का इसमें अपना कोई हेतु नहीं है।

भगवान् तो सर्वथा पूर्णकाम, सर्वशक्तिमान् महान् ईश्वर हैं। उनमें किसी प्रकारकी कामना या इच्छाकी कल्पना ही कैसे हो सकती है, जिससे उनकी दयामें किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुको स्थान मिल सके। वे तो स्वभावसे ही—बिना कारण परम दयालु हैं, सबके सुहृद् हैं, उनकी सब क्रिया सम्पूर्ण जीवोंके हितके लिये ही होती है। वास्तवमें अकर्ता होते हुए भी वे दयावश जीवोंके हितकी चेष्टा करते हैं। अजन्मा होते हुए भी साधु पुरुषोंका उद्धार, धर्मका प्रचार और दुष्टोंका संहार* करनेके लिये एवं संसारमें अपनी पुनीत लीलाका विस्तार करके लोगोंमें प्रेम और श्रद्धाका संचार करनेके लिये समय-समयपर अवतार धारण करते हैं; निर्गुण-निराकार और निर्विकार होते हुए भी अपने भक्तोंके प्रेमके अधीन होकर सगुण और साकाररूपसे दर्शन देनेके लिये बाध्य होते हैं, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी प्रेममें पिघलकर भक्तके अधीन हो जाते हैं, इन सबमें उनकी निर्हैतुकी परम दया ही कारण है।

जो भगवान्‌को प्राप्त हुए भगवद्भक्त हैं, जो भगवान्‌की दयाके महत्त्वको समझ गये हैं, जिनमें उस दयामय परमेश्वरकी दयाका अंश व्याप्त हो गया है, उन महापुरुषोंका भी अन्य जीवोंसे किसी प्रकारका

---

* यहाँ 'संहार' रूपसे भी भगवान् कल्याण ही करते हैं। कहा भी है—

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेको प्यार करने और ताड़ना देने दोनोंमें माताकी दया ही है, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले भगवान्‌की सब प्रकारसे उनपर कृपा ही है।'

स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। उनकी समस्त क्रियाएँ केवल लोकहितके लिये, किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुके बिना ही होती हैं, तब फिर भगवान्‌की दया हेतुरहित हो, इसमें तो कहना ही क्या है! महापुरुषोंका किसी भी जीवके साथ किसी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, इस विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं।'

इसी तरह अपने विषयमें भी भगवान् कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता ३। २२)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

तुलसीदासजीने भी कहा है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४६। २)

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि महापुरुषोंका और भगवान्‌का कोई कर्तव्य और प्रयोजन न रहते हुए भी लोगोंको उन्मार्गसे

बचानेके लिये एवं नीति, धर्म और ईश्वरभक्तिरूप सन्मार्गमें लगानेके लिये केवल लोकहितार्थ उनके द्वारा सब क्रियाएँ हुआ करती हैं, इसमें उनकी अपार दया ही कारण है।

भगवान्के परम दयालु और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी समदर्शी और निःस्पृह होनेके कारण उनके द्वारा अपने-आप कोई क्रिया नहीं की जाती। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक शरणागत होनेसे भक्तके हितके लिये ही उनमें क्रियाका प्रादुर्भाव होता है और उनकी दयाका विकास होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि इस प्रकार भगवान्की समानभावसे सब जीवोंपर अपार दया है, तब फिर सभी जीवोंका कल्याण क्यों नहीं हो जाता? विवेचन करनेसे इसका यही उत्तर मिलता है कि उनकी दयाके तत्त्वको न जाननेके कारण लोग उस दयासे विशेष लाभ नहीं उठाते। जैसे जगत्तारिणी भागीरथी गङ्गाका प्रवाह लोकहितार्थ निरन्तर बहता रहता है, तथापि जो गङ्गाके प्रभाव-को नहीं जानते, जो श्रद्धा-भक्तिकी कमी होनेके कारण स्नान-पानादि नहीं करते, वे उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते, इसी तरह भगवान्-की दयाका प्रवाह अहर्निश गङ्गाके प्रवाहसे भी बढ़कर सर्वत्र बह रहा है, तो भी मनुष्य उसका प्रभाव न जाननेके कारण एवं श्रद्धा-भक्तिकी कमी होनेके कारण, भगवान्की शरण लेकर उनकी दयासे विशेष लाभ नहीं उठाते।

समान भावसे भगवान्की दयाका साधारण लाभ तो सब जीवों-को मिलता ही है, परंतु जो उसकी दयाका पात्र बन जाता है, वह उससे विशेष लाभ उठा सकता है। सूर्यकी धूप और रोशनी सर्वत्र समान भावसे सबको प्राप्त होती है, अतः समानभावसे उसका लाभ

सबको मिलता है, किंतु सूर्यमुखी काँचपर उसकी शक्तिका विशेष प्रादुर्भाव होता है, उसमें तुरंत अग्नि प्रकट हो जाती है। सूर्यमुखी काँचकी भाँति जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, जिसके अन्तः-करणमें भगवान्‌पर विशेष श्रद्धा और प्रेम होता है, वह उनकी दयासे विशेष लाभ उठा सकता है।

मनुष्यके संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—तीनों प्रकारके कर्मोंसे ही भगवान्‌की दयाका सम्बन्ध है—पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका संचय भगवान्‌की दयासे ही हुआ है तथा उन संचित कर्मोंके अनुसार ही प्रारब्धभोग-का विधान भगवान् दयापूर्वक जीवोंके हितके लिये ही करते हैं। अतः भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझनेवाला प्रारब्धभोगके समय हर एक अवस्थामें भगवान्‌की दयाका दर्शन किया करता है। क्रियमाण शुभकर्म भी भगवान्‌की दयासे ही बनते हैं, उनकी दयासे ही मनुष्य सन्मार्गमें अग्रसर हो सकता है। अतः सभी कर्मोंसे भगवान्‌की दयाका नित्य सम्बन्ध है।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विचार करनेसे क्षण-क्षणमें, पद-पदपर, हर एक अवस्थामें मनुष्यको भगवान्‌की दयाके दर्शन होते रहते हैं। सब जीवों-को जल, वायु, प्रकाश आदि तत्त्वोंसे सुखभोग मिल रहा है, उनके जीवनका निर्वाह हो रहा है, खान-पान आदि कार्य चल रहे हैं, इन सबमें ईश्वरकी समान दया व्याप्त है।

मनुष्यके शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार फलभोगकी व्यवस्था कर देनेमें भगवान्‌की दयाका ही हाथ है।

थोड़ा-सा जप, ध्यान और सत्सङ्ग करनेसे मनुष्यके जन्म-जन्मान्तरके पापोंका नाश होनेका जो भगवान्‌ने कानून बनाया है, इसमें तो भगवान्‌की अपार दया भरी हुई है।

भगवान्‌की शरण होकर प्रेम और करुणाभावसे प्रार्थना करनेपर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाना, भक्तके हर प्रकारके दुःखों और संकटोंको दूर करना, सब प्रकारसे शरणागतकी रक्षा करना, हर एक प्रकारके पाप-कर्मसे उसे बचाना, यह उनकी विशेष दयाका प्रदर्शन है। बिना इच्छा और प्रार्थनाके भी भक्त प्रह्लादकी भाँति दृढ़ विश्वास रखकर भक्ति करनेवाले भक्तके हितके लिये स्वयं प्रकट होकर उसे दर्शन देना और सम्पूर्ण संकटोंसे उसकी रक्षा करना, यह भगवान्‌की दयाका अतिशय विशेष प्रदर्शन है।

महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा या स्वतः लोगोंके अन्तःकरणमें प्रेरणा करके अथवा स्वयं अवतार लेकर लोगोंको बुरे कर्मोंसे हटाकर अच्छे कर्मोंमें लगा देना, यह भी भगवान्‌की विशेष दयाका प्रदर्शन है।

स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और उनका विनाश होनेमें एवं शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहने और न रहनेमें, रोग और संकटादिकी प्राप्ति और उनके विनाशमें तथा सुख-सम्पत्ति और दुःखोंकी प्राप्तिमें भी—हर एक अवस्थामें मनुष्यको भगवान्‌की दयाका दर्शन करनेका अभ्यास करना चाहिये।

स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदि सांसारिक पदार्थोंकी वृद्धिमें समझना चाहिये कि भगवान्‌ने पूर्वकृत पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप ये सब पदार्थ दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये, श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये, भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेके लिये और हर प्रकारसे ईश्वरभक्तिमें इनका प्रयोग करनेके लिये ही दिये हैं। ऐसा समझकर उन सांसारिक पदार्थोंसे जो केवल शरीरनिर्वाहमात्र ही अपना सम्बन्ध रखता है और उन सबको ईश्वरके ही काममें लगा देता है, वही ईश्वरकी

दयाका रहस्य ठीक समझता है; जो उन पदार्थोंको भोगोंमें खर्च करता है, वह भगवान्‌की दयाके तत्त्वको नहीं समझता ।

इन सब सांसारिक भोग-पदार्थोंके नाशके समय समझना चाहिये कि इन सबमें मेरी भोगबुद्धि और आसक्ति होनेके कारण ये ईश्वरभक्तिमें बाधक थे । अतः परमदयालु भगवान्‌ने दयावश अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये इन सबको हटाया है, इसमें भगवान्‌की परम दया है । जिस प्रकार संसारमें देखा जाता है कि पतंगे या दूसरे इसी प्रकारके जन्तु रोशनीको देखकर उसपर आसक्त हो जाते हैं, मोहवश उसमें उछल-उछलकर पड़ते और भस्म हो जाते हैं । उनकी ऐसी बुरी दशा देखकर, दयालु मनुष्य उस रोशनीको वहाँसे हटा देता या बुझा देता है, इस कार्यमें उस मनुष्यकी उन पतंगोंपर महान् दया है, यद्यपि वे पतंगे इस बातको नहीं समझते । उनकी समझमें तो उस रोशनीको हटानेवाला अत्यन्त निर्दयी और महान् शत्रु है; पर यह उनका अज्ञान है, उनकी भूल है । इसी तरह हमारे भोले भाई जो ईश्वरकी दयाका रहस्य नहीं जानते, वे भी इन सब सांसारिक पदार्थोंका अभाव होते देखकर नाना प्रकारसे ईश्वरको दोष दिया करते हैं; परंतु भगवान् तो परम दयालु हैं, इसलिये वे उनके अपराधकी ओर नहीं देखते । तथा मुझपर परम दया करके भगवान्‌ने पूर्वकृत पापकर्मोंसे उऋण करनेके लिये, भविष्यमें पापोंसे बचानेके लिये और समस्त भोग-सामग्रीको प्रत्यक्ष क्षणभङ्गुर दिखाकर उनमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये इन सबका वियोग किया है—ऐसा समझकर जो सांसारिक भोग-पदार्थोंके वियोगमें भी भगवान्‌की दयाका दर्शन करके सदा प्रसन्न रहता है, वही उनकी दयाके रहस्यको ठीक समझता है ।

ऐसे ही जब शरीर आरोग्य रहे तो समझना चाहिये कि भगवान्‌को सर्वव्यापी समझकर सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हुए दूसरोंकी सेवा करनेके लिये, श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करके भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझनेके लिये और उनके भजन-ध्यानका निरन्तर अभ्यास करनेके लिये भगवान् दया करके मुझे नीरोग रखते हैं—ऐसा समझकर इस क्षणभंगुर शरीरको जो परम दयालु परमात्माके काममें उपर्युक्त उद्देश्यानुसार लगा देता है; वही उनकी दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

शरीर रोगग्रस्त होनेसे समझना चाहिये कि पूर्वकृत पापकर्मोंसे उऋण करनेके लिये, भविष्यमें पापोंसे बचानेके लिये, शरीरमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये और रोगादिमें तपबुद्धि करके उसका लाभ देनेके लिये एवं बार-बार अपनी स्मृति दिलानेके लिये भगवान्‌ने परम दया करके पुरस्काररूप यह अवस्था दी है—यह समझकर जो रोगादिकी प्राप्तिमें भी किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करके आनन्दपूर्वक अपने मनको निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें लगा देता है तथा भगवान्‌के उपर्युक्त उद्देश्योंको समझ-समझकर सदा हर्षित रहता है, वही भगवान्‌की दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

इसी तरह सुखी और दुखी, महात्मा और पापी जीवोंके साथ मिलन और विछोह होनेके समय, एवं उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध होते समय, सदा भगवान्‌की दयाका दर्शन करना चाहिये।

अच्छे पुरुषोंसे भेंट हो तो समझना चाहिये कि इनके गुणों और आचरणोंका अनुकरण करवानेके लिये, इनके उपदेशोंको काममें लाकर भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेके लिये भगवान्‌ने परम दया करके इनसे भेंट करायी है।

उनके साथ वियोग होनेपर समझना चाहिये कि ऐसे पुरुषोंका संग सदा रहना दुर्लभ है। इस महत्त्वको समझानेके लिये, पुनः उनसे मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करनेके लिये और उनमें प्रेम बढ़ानेके लिये भगवान् दया करके ही उनसे वियोग कराते हैं।

दुष्ट, दुराचारी पुरुषोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि दुराचारोंसे होनेवाली हानियोंको प्रत्यक्ष दिखाकर, दुर्गुण और दुराचारमें विरक्ति उत्पन्न करनेके लिये भगवान् ऐसे मनुष्योंसे भेंट कराते हैं।

उनके वियोगमें समझना चाहिये कि कुसंगके दोषोंसे बचानेके लिये ही भगवान् अपनी दयासे ऐसे दुराचारी मनुष्योंसे वियोग कराते हैं।

दुखी मनुष्यों और जीवोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि अन्तःकरणमें करुणाभावकी वृद्धि करनेके लिये, उनकी सेवा करनेका मौका देनेके लिये और संसारमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये दयामय भगवान् दया करके ही ऐसे जीवोंसे भेंट कराते हैं।

सुखी मनुष्योंसे और जीवोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि इन सबको सुखी देखकर प्रसन्न होनेकी शिक्षा देनेके लिये भगवान्ने दया करके इनसे भेंट करायी है।

इन सबके वियोगमें समझना चाहिये कि जनसमुदायकी आसक्तिको दूर करके, संसारमें परम वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये और एकान्तमें रहकर भजन-ध्यानका दृढ़ अभ्यास करनेके लिये भगवान्ने दयापूर्वक ऐसा मौका दिया है।

इसी तरह अन्य सब घटनाओंमें सदा-सर्वदा, सभी अवस्थाओंमें, भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये। ऐसा अभ्यास करके मनुष्य, सब जीवोंपर जो भगवान्की अपार दयाका प्रवाह बह रहा है, उसके रहस्यको समझकर उससे विशेष लाभ उठा सकता है।

दयामय परमेश्वरकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्ण रूपसे तो मनुष्य उसे समझ ही नहीं सकता; मनुष्य अपनी बुद्धिसे अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है, उतना समझना भी बहुत ही है; मनुष्य ईश्वर-कृपाकी यथार्थरूपसे तो कल्पना भी नहीं कर सकता।

लोग भगवान्‌को दयासागर कहते हैं, किंतु विचार करनेपर मालूम होता है कि यह उपमा भी पर्याप्त नहीं है, यह तो उसकी अपार दयाका किञ्चित् परिचयमात्र है। समुद्र परिमित——सीमाबद्ध है और भगवान्‌की दया असीम और अपार है, तथापि संसारमें समुद्रसे बड़ी वस्तु प्रत्यक्ष न होनेके कारण लोग उसीकी उपमा देकर भगवान्‌की दयाके महत्त्वको समझानेकी चेष्टा किया करते हैं।

इस प्रकार सब जीवोंपर भगवान्‌की अपार दया होते हुए भी उसके रहस्यको न समझनेके कारण मनुष्य उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते और अपनी मूर्खताके कारण निरन्तर दुःखोंमें मग्न रहते हैं।

भगवान्‌की दयाका महत्त्व अपार है; उससे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहेगा, उतना ही उठा सकता है। भगवान्‌की दयाको एवं उसके रहस्य और तत्त्वको बिना समझे वह दया समान-भावसे साधारण फल देती है; उसे जो जितना अधिक समझता है उसे वह उतना ही अधिक फल देती है और समझकर उसीके अनुसार क्रिया करनेसे अत्यधिक फल देती है।

भगवान्‌की दयाका ऐसा प्रभाव है कि उसका रहस्य और तत्त्व जाननेवालेसे वह पारसमणिकी भाँति स्वयं क्रिया करवा लेती है। अर्थात् जैसे किसी दरिद्री मनुष्यके घरमें पारस पड़ा हो पर उसे उसका ज्ञान न हो, वह उसे साधारण पत्थर ही समझ रहा हो, तो

वह मनुष्य उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकता, केवल पत्थर-जैसा ही काम ले सकता है। किंतु ऐसा करते-करते यदि अकस्मात् उस पारसका लोहेसे सम्बन्ध हो जाय, तो वह उसे विशेष लाभ भी दे देता है; एवं ऐसा अद्भुत चमत्कार देखकर या किसी दूसरे गुणज्ञ पुरुषके समझानेसे वह उस पारसको ठीक पारस समझ लेता है, उस पारसके गुण और प्रभावका उसे भलीभाँति ज्ञान हो जाता है, तब ऐसा ज्ञान उस मनुष्यसे विशेष क्रिया करवाकर, उसे पूर्ण फलका भागी बना देता है। इसी तरह जब किसी विशेष घटनासे या किसी महापुरुषके संगसे भगवान्‌की दयाके रहस्य, तत्त्व और प्रभावका मनुष्यको कुछ ज्ञान हो जाता है, तो वह ज्ञान उससे स्वयं क्रिया करवाकर उसे पूर्ण फलका भागी बना देता है।

जो मनुष्य इस रहस्यको समझ जाता है कि भगवान् परम दयालु तथा सबके सुहृद् हैं, उसे तुरंत ही परम शान्ति मिल जाती है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

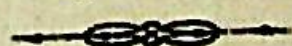
(गीता ५ । २९)

'हे अर्जुन ! मेरा भक्त मुझे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी तत्त्वतः जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

क्यों न हो। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब किसी साधारण राजाधिराज तथा सेठ-साहूकारके विषयमें हमारा यह विश्वास हो जाता है कि अमुक राजा या सेठ बड़ा दयालु और शक्तिशाली है, वह सबपर दया करता है एवं मुझसे मिलना चाहता है और प्रेम करना चाहता है, तो हमें कितना आनन्द होता है, कितना आश्वासन

मिलता है, कितनी शान्ति मिलती है, एवं किस प्रकार उससे मिलकर उसकी दयासे लाभ उठानेकी चेष्टा होती है। फिर सर्वशक्तिमान्, असंख्य कोटि ब्रह्माण्डोंके मालिक भगवान्‌के विषयमें जिसको यह विश्वास हो जाय कि भगवान् परम दयालु, सबके सुहृद् हैं, वे मुझसे प्रेम करना चाहते हैं, मुझपर उनकी अपार दया है, मिलनेकी इच्छावालोंसे वे स्वयं मिलना चाहते हैं, फिर वह श्रद्धालु भक्त भगवान्‌की उस दयासे परम लाभ उठानेकी चेष्टा करे और उसे परम शान्ति प्राप्त हो, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है। इस प्रकार भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझनेवाला स्वयं भी परम दयालु और सबका सुहृद् बन जाता है, उसे स्वयं भगवान् मिल जाते हैं, वह भगवान्‌का अतिशय प्यारा बन जाता है, भगवान्‌की और उसकी एकता हो जाती है।

उस परम दयालु, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दया हमलोगोंपर स्वाभाविक है। क्षण-क्षणमें उसकी दयाका स्वाभाविक लाभ हमको मिल रहा है, वे स्वयं अवतार लेकर अपनी दयाका प्रत्यक्ष दर्शन करा गये हैं, इसलिये उसकी ओर लक्ष्य करके भगवान्‌की दयाके रहस्य, प्रभाव और तत्त्वको समझनेके लिये हमें तत्पर हो जाना चाहिये; क्योंकि यह मनुष्य-शरीर भगवान्‌की निर्हैतुकी दयासे ही प्राप्त हुआ है, इसीमें यह जीव भगवान्‌की दयाको समझकर उनका परम प्रेमपात्र बन सकता है। क्षण-क्षणमें आयु नष्ट हो रही है, फिर ऐसा मौका मिलना असम्भव है। गया हुआ समय वापस नहीं मिल सकता, अतः ऐसे अमूल्य मनुष्यजीवनको विषय-भोगोंके भोगनेमें, मोह-मायामें, आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।



शरणागतिका स्वरूप और फल

शरणागतिका प्रारम्भिक स्वरूप क्या है तथा बादमें उसका क्या स्वरूप हो जाता है—इसी विषयपर इस निबन्धमें विचार करना है। यह विषय बहुत ही गम्भीर और रहस्यपूर्ण है। जो व्यक्ति इस रहस्यको हृदयङ्गम कर लेता है वह सदाके लिये कृतार्थ हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिने भी योगसूत्रमें पहले मननिरोधके लिये अभ्यास और वैराग्यका कथन किया है और फिर 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' कहकर शरणागतिका महत्त्व प्रतिपादन किया है। रामायण और गीता आदिमें भी ईश्वरशरणको ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन बतलाया गया है।

शरणागति और भक्ति—दोनोंका एक ही तात्पर्य है। इनके पूर्व अनन्य शब्द जोड़ देनेपर भक्ति और शरणागतिमें पूर्णता आ जाती है।

शरणका आरम्भ 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' इस कथनमात्रसे ही हो जाता है। यही कथन आगे चलकर यथार्थ शरणागतिके रूपमें परिणत हो जाता है। मारवाड़में क्यामख्यानी नामकी एक मुसल्मान जाति है। सुना जाता है कि पहले ये लोग हिन्दू थे। जिस जगह ये प्रधानतासे रहा करते थे, वहाँके शासकने इन्हें मुसल्मान बना लेनेकी नीयतसे यह कहा कि तुमलोगोंसे मैं एक बातकी आशा करता हूँ। वह यह कि तुमलोग वास्तवमें मुसल्मान न भी बनो, पर कम-से-कम पूछनेपर अपनेको मुसल्मान बतलाते रहो।' इस राजाज्ञाको मान लेनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। उनके घरू व्यवहार और वैयक्तिक रहन-सहन ठीक हिन्दुओंके-जैसे ही बने रहे, पर पूछनेपर वे अपनेको मुसल्मान ही बतलाते थे। आश्चर्य है कि मुसल्मान शासककी यह दूरदर्शितापूर्ण नीति शीघ्र ही काम कर गयी और आज उनके खान-पान और रहन-रहन आदि समस्त व्यवहार मुसल्मानी ढाँचेमें पूर्णरूपसे ढल गये। अब वे लोग अपनेको वास्तवमें पूरे मुसल्मान मानने लगे हैं। इस दृष्टान्तके अनुसार यदि हम अपने ईश्वररूप राजाके व्यापक राज्यमें रहकर यह स्वीकार कर लें कि 'हे प्रभो! हम आपके हैं तो फिर हमें सच्चा भक्त बन जानेमें देर नहीं लगेगी, क्योंकि उस दयालु परमेश्वरने तो डंकेकी चोट यह घोषणा ही कर रक्खी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ' यह कहकर मुझसे अभय चाहता है, मैं उसे समस्त भूतोंसे निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।' महाभारत-युद्ध-आरम्भके समय गीतामें अर्जुन भी इसी प्रकार शरणागतके रूपमें हमें दृष्टिगत होता है। वह मनस्तापसे व्यथित होकर अपने चिरन्तन सखा भगवान् श्रीकृष्णके सामने कातर स्वरमें कह उठता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(गीता २। ७)

'कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ कि जो साधन निश्चय ही कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

इसके पूर्व गीतामें कहीं भी शरणागतिका वर्णन नहीं आया, इसलिये यह शरणागति प्रारम्भिक समझनी चाहिये; क्योंकि इसके बाद ही वह कहने लगता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' संजय कहते हैं—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥
(गीता २।९)

'हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्‌से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये।'

अर्जुनकी इस 'न योत्स्ये'वाली उक्तिको सुनकर भगवान् अपनी मुसकराहटको रोक न सके; क्योंकि एक ओर तो वह कह रहा है कि 'मैं आपके शरण हूँ मुझे उपदेश दीजिये, और दूसरी ओर अपनी मनमानी कहता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' यह व्यवहार तो उस झगड़ालूकी तरहका-सा हुआ कि जो अपने किसी विश्वासभाजन पंचके पास जाकर कहता है कि 'मेरा एक नालीके सम्बन्धमें पड़ोसीसे झगड़ा हो गया है। आप उसका निपटारा कर दीजिये। मुझे आपका निर्णय सर्वथा मान्य होगा। किंतु इस बातका ध्यान रहे कि इस नालीका पानी तो जहाँ गिरता है वहीं गिरेगा।' इस बातको सुनकर पंच उसके इस आग्रहको देखकर मन-ही-मन हँसता है और न्यायके लिये किसी दूसरेके पास जानेकी सलाह देता है। यहाँ अर्जुनकी भी दशा इसी तरहकी-सी देखी जाती है। वह कहता है कि 'मैं आपके शरण हूँ, आप कहेंगे सो करूँगा, परंतु युद्ध नहीं करूँगा!' इस दशामें भी दयामय भगवान्‌को अर्जुनके इस कथनपर कोई अन्यथाभाव नहीं हुआ। उन्होंने उसे अपने शरणसे दूर नहीं किया। बल्कि हर तरहसे समझा-

बुझाकर मार्गपर लानेकी सफल चेष्टा की; क्योंकि वह 'त्वां प्रपन्नम्' 'मैं आपके शरण हूँ' ऐसा एक बार कह चुका था।

इस कथनसे यह नहीं समझना चाहिये कि वास्तवमें अर्जुनकी भगवद्भक्तिमें कमी थी। उसकी भक्तिमें कमी होती तो भगवान् उसके रथके घोड़े ही क्यों हाँकते; बात यह है कि भगवान्‌ने अपनी लीलासे अर्जुनको मोहित-सा करके यहाँ लोकशिक्षार्थ प्रारम्भिक शरणागतिका स्वरूप दिखलाया है।

यह तो प्रारम्भिक शरणकी बात हुई। अब शरणागतिके स्वरूपको समझनेकी आवश्यकता है। इन्द्रिय, मन, शरीर और आत्मा सबसे सर्वथा निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के शरण होनेका नाम ही अनन्य शरणागति है। परमेश्वरके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला और रहस्यका सदा मनन करते रहना मनसे भगवान्‌के शरण होना है। वाणीसे भगवन्नामका उच्चारण करना, चरणोंसे भगवान्‌के मन्दिर आदिमें जाना, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्ति आदिके दर्शन एवं शास्त्रावलोकन करना, कानोंसे उनके गुणानुवादादि सुनना तथा हाथोंसे उनके विग्रहकी पूजा करना और सबमें भगवद्बुद्धि करके सबकी सेवा करना तथा श्रीहरिकी आज्ञाओंका पालन करना इत्यादि इन्द्रियोंसे उनके शरण होना है और उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करना आदि शरीरसे भगवान्‌के शरण होना है तथा भगवत्प्रेमके सिवा और किसीको भी हृदयमें स्थान न देकर भगवान्‌के परायण होना ही अपने आपको भगवान्‌के समर्पित कर देना है, यही अनन्य शरण है। शास्त्रोंमें तो परम दयालु परमात्माको केवल एक ही

बार प्रणाम कर देनेका भी बहुत अधिक माहात्म्य बतलाया गया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥
(महा० शान्ति० ४७ । ९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक भी प्रणाम दस अश्वमेध-यज्ञोंके अवभृथस्नानके बराबर है, (इतना ही नहीं, विशेषता यह है कि) दस अश्वमेध करनेवालेको तो फिर जन्म लेना पड़ता है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।'

इसी प्रकार श्रीहरिके पावन नामका केवल एक ही बार उच्चारण कर देनेसे भी समस्त पापोंका नाश होकर अकथनीय फलकी प्राप्ति होती है । प्रत्यक्षमें वैसा फल दृष्टिगत न होनेमें हमारी अश्रद्धा ही प्रधान कारण है ।

वाणीसे शरण होना जितना सुगम है, शरीरकी शरणागति उतनी सुगम नहीं है। एक आदमी किसीका अपराध कर देता है तब वह अपनेको संकटापन्न समझकर क्षमा-याचनाके लिये उसकी शरणमें जाता है । उस समय वह अपने मुँहसे तो उससे क्षमा माँग लेता है, पर उसके चरणोंमें गिरने आदिमें उसे संकोच होता है । फिर भी वह केवल कथनद्वारा भी अपने अपराधोंको क्षमा करवा ही लेता है । वाणी और शरीरसे शरण होनेकी अपेक्षा इन्द्रियोंसहित अन्तः-करणद्वारा शरण होना और भी कठिन है; क्योंकि मनुष्य वाणीसे

कह देता है कि 'मैं आपके शरण हूँ' और शरीरसे भी चरणोंमें गिरकर शरणागत हो जाता है; परंतु मनसे शरण होना इससे भी कठिन है। मनसे शरण हो जानेका फल यह है कि भगवान्‌के सिवा किसी अन्य वस्तुका चिन्तन ही नहीं होता। उसे तो नित्य-निरन्तर अपने प्रियतम वासुदेव ही सर्वत्र विराजित दीखने लगते हैं।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥*

(गीता ७। १९ का उत्तरार्ध)

उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माके शरण हो जानेपर किसी-किसी साधकको तो अपने तनकी भी सुधि नहीं रहती। वह भगवान्‌से परे और किसीको भी नहीं जानता और भगवान्‌के ही अनन्य प्रेममें मग्न रहता है। इस शरणागतिमें पूर्वोक्त सभी भेदोंका अन्तर्भाव है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि हम उस प्रभुकी शरणके लिये कहाँ जायँ? मन्दिरमें जाकर उसके विग्रहकी शरण लें अथवा सब जगह प्रतिष्ठित सर्वव्यापक विभुकी शरण ग्रहण करें? उसके उत्तरमें निवेदन है कि जिसकी जैसी रुचि हो, वह उसीके अनुसार भगवान्‌की शरण ले सकता है। यदि कारणविशेषसे मन्दिरोंमें जानेमें सुविधा या रुचि न हो तो जो जहाँ हो वह वहीं भगवान्‌की शरण हो सकता है; क्योंकि भगवान् सर्वव्यापक हैं, कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ वे न हों। यदि हम उन्हें कोई वस्तु अर्पण करना चाहें तो वे तत्काल उसे ग्रहण कर सकते हैं; क्योंकि वे

* 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार तत्त्वसे समझकर जो मेरे शरण हो जाता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

'सर्वतःपाणि' अर्थात् सब ओर हाथोंवाले हैं। यदि हम उन्हें नमस्कार करना चाहें तो वे हमारे नमस्कारको भी सब जगह स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि वे 'सर्वतःपाद' अर्थात् सब जगह पैरवाले हैं। यदि हम उन्हें अपनी श्रद्धामयी पूजा-क्रियादिको दिखलाना चाहें तो वे उन्हें देख भी सकते हैं; क्योंकि वे 'सर्वतोऽक्षि' अर्थात् सब जगह नेत्रोंवाले हैं। यदि हम उनके मस्तकपर प्रेम-पुष्पाञ्जलि समर्पित करना चाहें तो वे उसे भी सहर्ष स्वीकार कर सकते हैं; क्योंकि वे 'सर्वतःशिरः' अर्थात् सब स्थानोंपर सिरवाले हैं। हमारे द्वारा किये गये गुणानुवादोंको भी वे प्रभु सभी जगह सुन सकते हैं; क्योंकि वे 'सर्वतःश्रुतिमत्' अर्थात् सब जगह कानोंवाले हैं। इसी प्रकार प्रेमसे अर्पण किये हुए हमारे नैवेद्यको भी वे 'सर्वतोमुखः' भगवान्* निःसंकोच खा सकते हैं।

गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेम-

---

* सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ (गीता १३। १३)

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है, क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'

पूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिपूर्वक खाता हूँ।'

ऊपरकी पंक्तियोंमें भगवान्‌के निमित्त पूजा आदि क्रियाओंको करनेकी विधिका निरूपण किया गया। अब निराकार सर्वत्र व्यापक भगवान् विभुकी आज्ञाएँ कैसे प्राप्त की जायँ, इस विषयपर कुछ लिखा जाता है। गीताके उपदेशोंको ही भगवान्‌की आज्ञा मानकर अर्जुनकी तरह अपने-आपको उसके अनुगत बना दें। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि किसी संदिग्ध विषयको न समझ सकनेकी दशामें उसका समाधान किस प्रकार किया जाय। इसका उत्तर यह है कि एकान्तमें बैठकर 'सर्वभूताशयस्थित' भगवान्‌को अपने मनके समस्त संदेह सुना दे, ऐसा करनेपर वे स्वतः ही हृदयमें प्रेरणा कर सकते हैं। इसपर भी हृदयकी मलिनताके कारण यदि कोई बात समझमें न आ सके तो भगवान्‌के भक्तोंको पूछना चाहिये। उन भक्तोंका पता भी भगवान् ही बतला सकेंगे, वे जिनके लिये हृदयमें प्रेरणा करें वे ही हमारे लिये भक्त कहे जा सकते हैं।

हम भगवान्‌की पूर्णतया शरण हो गये—इसका निश्चय कैसे हो? इस शंकाका समाधान करनेके लिये अर्जुनका दृष्टान्त देते हैं। अर्जुनसे भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा

पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

इस श्लोकमें शरणागतिकी चारों बातें आ गयीं। 'मन्मनाः' अर्थात् मेरेमें मन लगानेवाला हो। 'मद्भक्तः' मुझमें ही, स्त्री-पुत्रादिमें नहीं, प्रेम करनेवाला हो। 'मद्याजी' से भगवान्‌की पूजा और आज्ञापालन समझना चाहिये। 'नमस्कुरु' अर्थात् मेरे चरणोंमें प्रणाम कर। प्रणाम करनेका महत्त्व तो लोकमें भी प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है। जब अपराधी चरणोंमें गिर पड़ता है तो चाहे कोई कितना ही निष्ठुरहृदय क्यों न हो, उसे उसको क्षमा प्रदान करनी ही पड़ती है। छोटा बालक अपराध करके अपनी माताकी गोदमें जा बैठता है और बड़ा चरणोंमें गिर पड़ता है। इसी प्रकार भक्त अपने परम सुहृद् परमात्माके पादपद्मोंमें गिर पड़े। फिर वे चाहे मारें या तारें; इसकी कोई परवा नहीं, भगवान्‌के द्वारा किये हुए विधानमें सदा प्रसन्न रहे, भारी-से-भारी दुःख पड़नेपर भी कभी विचलित न हो। जिस समय बालकके फोड़ेकी चीरा-फाड़ी होती है, उस समय वह अपनी माताकी गोदमें सुखसे बैठा रहता है, जरा भी घबराता नहीं। वह रोता हुआ भी इस बातको जानता है कि मेरी स्नेहमयी जननी कभी स्वप्नमें भी मेरा अहित नहीं कर सकती। उसका प्रत्येक विधान मेरे लिये सदा मङ्गलमय ही होता है। इसी प्रकार भक्त निःशङ्क होकर विश्वासपूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें पड़ा रहता है। भारी-से-भारी दुःखके उपस्थित

होनेपर भी बुद्धिके विचारसे वह उसके गर्भमें अपने कल्याणको देखता रहता है, किंतु कभी-कभी प्रणय-कोप भी कर बैठता है और कभी-कभी रोने भी लगता है। प्रभु उसके बालकपनको समझकर उसके दुःखकी—उसके रोनेकी परवा नहीं करते और अन्तमें उसे ऐसा बना देते हैं कि वह प्रत्येक अवस्थामें संतुष्ट रहता है। अनिकेत बन जाता है—देह और गेह उसके निकेत नहीं रहते। उसका देहाभिमान छूट जाता है और उसकी गृहासक्ति नष्ट हो जाती है।

भगवान् भी कहते हैं—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता १२। १९)

'जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

इस प्रकार बुद्धिके स्थिर हो जानेपर वह प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहता है। गीताके १२वें अध्यायके श्लोक १३ से १९ तकमें भक्तोंके जितने लक्षण भगवान्ने बतलाये हैं, यदि वे हममें घटने लगें तो समझ लेना चाहिये कि हम भगवान्के पूर्णतया शरण हो गये।

यहाँतक शरणागतिकी प्रारम्भिक और अन्तिम स्थितिका प्रतिपादन किया गया। अब उसकी बीचकी सीढ़ियोंपर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार हनुमान्जीने छलाँग मारकर ही समुद्रको पार कर लिया था, उसी प्रकार भक्त

भी बीचकी सीढ़ियोंपर चढ़े बिना भी संसारसमुद्रसे पार होकर परमात्माकी दयासे अपने अभींष्ट धामको पहुँच सकता है।

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा वर्णित अध्याय १६ के आरम्भके 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' आदि दैवीसम्पदाके छब्बीस गुणोंको अपने हृदयमें धारण कर लेना ही शरणागतिकी बीचकी अवस्था है। इसका फल भगवत्प्राप्ति है।

यदि कहें कि दैवी सम्पत्तिके लक्षण भक्तिमार्गके साधन क्यों माने जायँ, तो भगवान्‌ने नवें अध्यायमें स्पष्ट कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९।१३)

'हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

(गीता ९।१४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

इस श्लोकमें भक्ति (शरणागति) के लक्षणोंका वर्णन किया है, इसलिये दैवीसम्पत्तिको भक्तिके प्रकरणमें लेना उचित ही है।

शरणागतिके मार्गपर चलनेवाले साधकके हृदयमें दुर्गुण और दुराचार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं तथा सदाचार और सद्गुणका विकास भी भगवान्‌की दयासे अपने-आप ही होता जाता है। दैवी-सम्पदाकी प्राप्ति और आसुरीसम्पदाके नाशमें भगवान्‌की दया ही प्रधान हेतु है। यदि सद्गुणोंकी वृद्धि होती न दीखे तो समझना चाहिये कि शरणमें अभी त्रुटि है। जैसे सूर्यकी शरण लेनेपर अन्धकारको कहीं भी स्थान नहीं रह जाता, वैसे ही भगवान्‌की शरण हो जानेपर हृदयमें किसी प्रकारका दोष रह ही नहीं सकता। शरणागतिकी दृढ़ताके लिये साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये। वह अपने मनको सदा देखता रहे कि उसमें सद्गुणोंका और भगवान्‌का वास हो रहा है या विषयोंका। वह ध्यान रक्खे कि उसकी वाणी भगवद्गुणानुवादका रसानुभव कर रही है या नहीं। उसकी क्रियाएँ भगवान्‌के बदले कहीं भोगोंके लिये तो नहीं हो रही हैं? शरीरको समर्पित कर देनेपर तत्सम्बन्धी सुख-दुःखोंमें साधकको भगवान्‌की दया स्पष्टरूपसे दीखने लगती है। ज्यों-ज्यों भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है, त्यों-त्यों विषयोंमें आनन्द कम होता जाता है और भगवान्‌में बढ़ता जाता है। यही प्रेमकी कसौटी है। भगवान्‌में जितना प्रेम बढ़ता जायगा—भगवान्‌का उतना ही ज्ञान होता जायगा, उतना ही सांसारिक विषयोंमें वैराग्य होकर उनमें स्वतः ही आनन्द कम प्रतीत होने लगेगा। धीरे-धीरे भगवान्‌के प्रेमका आनन्द बढ़ेगा और फिर उसके सामने त्रिलोकीका आनन्द भी तुच्छ प्रतीत होगा।

भगवान्‌के शरणार्थीको ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् जो कुछ करते हैं, सब मङ्गल ही करते हैं। उनके प्रत्येक विधानमें दया और न्याय मानकर आनन्दित होना चाहिये। उन्हीं नवीन कर्मोंको करना चाहिये, जिनसे भगवान् प्रसन्न हों। भगवान्‌को हर समय याद रखना चाहिये। स्त्री-पुत्र आदिके प्राप्त होनेपर यह समझे कि भगवत्-प्राप्तिमें सहायताके लिये ये मिले हैं और इनके नाश होनेपर यह समझे कि मैं इनकी आसक्तिमें फँस गया था, इसलिये भगवान्‌ने दया करके इनको हटा लिया है। इसी प्रकार अन्य विषयोंकी प्राप्ति और विनाशमें भी समझना चाहिये।

यों समझते-समझते मनका जितना-जितना विकार हटता जाता है, उतना-उतना ही वह प्रभुके नजदीक जाता रहता है। प्रभुकी दयासे उसमें सद्‌गुणोंकी वृद्धि होती रहती है। वह किसीकी सेवा करता है तो यह समझता है कि मैं प्रभुकी ही सेवा कर रहा हूँ। हरेक कालमें उसका निःस्वार्थ भाव रहता है। जैसे पतिव्रता स्त्री अतिथियोंकी सेवा करती है; परंतु उनमें आसक्त नहीं होती, इसी प्रकार भक्त भी सारी दुनियाकी सेवा करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता।

किसी-किसी भक्तमें ऐसा भी होता है कि जब सेवा करनेसे उसकी प्रतिष्ठा होने लगती है, तब आरम्भमें तो वह उससे प्रसन्न-सा होता है और खूब सेवा करता है; परंतु आगे जाकर विचार करता है कि मैं तो मान-बड़ाईके लिये सेवा कर रहा हूँ, प्रभुके लिये कहाँ? धीरे-धीरे उसकी मान-बड़ाईकी चाह कम होती जाती है

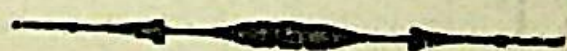
और यह स्वयं मान-बड़ाईके उद्देश्यको छोड़ता जाता है, परंतु फिर भी दूसरोंके द्वारा दी गयी मान-बड़ाईको कहीं स्वीकार कर बैठता है। इसके बाद वह मान-बड़ाईके प्राप्त होनेपर लज्जित हो जाता है। मनमें समझता है कि पृथ्वी फट जाय तो उसमें धँस जाऊँ और इसके बाद तो जहाँ ऐसा मौका आनेकी सम्भावना होती है, वहाँ वह जाना ही नहीं चाहता, जैसे पतिव्रता स्त्री बुरे वातावरणमें नहीं जाना चाहती। ऐसी अवस्थामें उसे मान-बड़ाईमें दुःख और अपमान तथा निन्दामें सुख-सा प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार क्रमशः उसके अहंकारका कतई नाश होता जाता है, वह विचार करता है कि मुझमें जो 'मैं' था, वह 'मैं' तो प्रभुके शरण हो गया। अब तो मैं प्रभुकी कठपुतलीमात्र हूँ। इसी स्थितिको बतलाते हुए भगवान् कह रहे हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंको तो मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

मतलब यह कि जिस प्रकार कठपुतलीको सूत्रधार जैसे नचाता है, वह वैसे ही नाचती है। अपनी ओरसे कोई चेष्टा नहीं करती। वैसे ही वह भक्त अपने अहंकारसे कुछ भी नहीं करता। उसके द्वारा जो कुछ होता है, सब भगवान् ही करते हैं, इसलिये उसकी प्रत्येक क्रिया परम पवित्र—आदर्श होती है। उससे ऐसा कोई कार्य होता ही नहीं, जो भगवान्‌की आज्ञा और रुचिके प्रतिकूल हो, यही कर्मोंका अर्पण है। उसके मन, शरीर और इन्द्रियाँ सब कुछ भगवान्‌के ही अर्पित होती हैं। इसी प्रकार वह सुख-दुःखकी प्राप्तिमें भी किसी प्रकार अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, वरं उसे भगवान्‌का विधान समझकर पद-पदमें भगवान्‌की दयाका दर्शन करता हुआ मुग्ध रहता है। उसका चित्त अनन्यरूपसे केवल भगवान्‌के ही चिन्तनमें लगा रहता है, दूसरे किसी विषयके अस्तित्वकी भी कल्पना उसकी वृत्तिमें नहीं आती। इस प्रकार कर्मसे शरीर और इन्द्रियोंसे और मन-बुद्धिसे जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो जाता है, उसे भगवान् स्वयं अति शीघ्र संसारसागरसे उद्धार कर अपना परमप्रेमी बना लेते हैं और स्वयं उसके परमप्रेमी बन जाते हैं ऐसी स्थितिमें उसको सब ओर प्रभुका ही रूप दीखने लगता है। वह अपने-आपको सर्वथा भूलकर प्रेममय बन जाता है; तब उसे नीतिका भी ज्ञान नहीं रहता। वह मस्त हो जाता है। यही पूर्ण शरणागति है, इसीको अनन्यभक्ति और अनन्यशरण कहते हैं, यही अपने-आपको भगवान्‌के पूर्णतया समर्पण करना है।



अनन्यभक्तिका स्वरूप और रहस्य

समय बहुत ही अमूल्य है, अतः एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। रात्रिमें सोनेके समय भगवान्‌के नामका जप और ध्यान करते-करते ही सोना चाहिये। इस प्रकार सोनेसे रातका शयनकाल भी साधनकाल बन जाता है।

दिनमें चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते जैसे गोपियाँ अपना समय बिताया करती थीं, उसी तरह समय बिताना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(१०।४४।१५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कार्योंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं।'

इसी प्रकार हमलोगोंको भी हर समय वाणीसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा मनसे भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये, इसमें जरा भी कमी नहीं रहनी चाहिये।

प्रातः और सायंकाल—दोनों कालोंमें साधनके लिये नियमितरूपसे भी हमें समय लगाना चाहिये। नियमितरूपसे हम जो समय लगावें, उसे भी बहुत ही मूल्यवान् बना लेना चाहिये। भगवान्‌के नाम-जपके साथ निम्नलिखित छः बातोंका विशेषरूपसे ध्यान रक्खा जाय तो नाम-जप बहुत मूल्यवान् बन सकता है—

(१) नाम-जप हो सके तो मनसे, नहीं तो श्वासके द्वारा करे; वह भी न हो सके तो जिह्वाके द्वारा ही किया जाय।

(२) नाम-जपके समय, जिसका नाम है, उस नामी (भगवान्) को याद रखना चाहिये।

(३) नाम-जप गुप्तरूपसे करे। किसीको यह नहीं कहना चाहिये कि मैं इतना जप करता हूँ।

(४) नाम-जप श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

(५) नाम-जप प्रेममें विह्वल होकर करना चाहिये।

(६) नाम-जप निष्कामभावसे करना चाहिये।

इनमेंसे एक-एक भाव मूल्यवान् है। श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभाव—इनमेंसे तो एक भी साथ रहे तो उससे हमारा संसारसागरसे उद्धार हो सकता है।

भगवान्‌का ध्यान करनेके समय ये छः बातें साथमें होनी चाहिये—

(१) भगवान्‌के नामका जप।

(२) संसारसे वैराग्य।

(३) भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाकी स्मृति।

(४) इन सबमें भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझना।

(५) निरन्तरता।

(६) निष्कामभाव।

इस प्रकार यदि ध्यान किया जाय और वह ध्यान यदि एक क्षण भी हो जाय तो उसके समान न तप है, न तीर्थ है, न व्रत है, न दान है, न यज्ञ है—कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार अपने समयको मूल्यवान् बनाना चाहिये।

गीताका पाठ इस प्रकार करना चाहिये—एक मनुष्य अठारहों अध्यायोंके मूल श्लोकोंका पाठ करता है और दूसरा मनुष्य केवल एक अध्यायका ही अर्थ और भाव समझकर पाठ करता है तो पहलेवालेकी अपेक्षा वह एक अध्यायका पाठ करनेवाला श्रेष्ठ है। अर्थ और भावको समझकर हृदयमें धारण करे और फिर उसे कार्यान्वित करे यानी कार्यरूपमें परिणत करे तो वह सबसे उत्तम है। यही बात रामायण आदिके पाठके विषयमें भी समझनी चाहिये।

पूजा हमें मानसिक करनी चाहिये, मानो प्रत्यक्ष ही कर रहे हैं। भगवान्‌का ध्यान करके पूजा करे, भोग लगाये, आरती करे, फिर स्तुति-प्रार्थना करे। ये सब भी भावसे मन्त्रोंका अर्थ समझते हुए, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, निष्कामभावसे और प्रेममें विह्वल होकर करे। चित्रपट आदिके सहारे यदि ध्यान किया जाय तो उस-उस

चित्रपट या मूर्तिका नहीं; साक्षात् भगवान्का ही ध्यान करे। यह ध्यान और पूजा भी मूल्यवान् है, इस पूजामें दूसरी जगह मन जानेकी गुंजाइश नहीं; क्योंकि मानसिक पूजामें भगवान्का स्वरूप भी मानसिक ही होता है। जिस शरीरसे भगवान्की हम पूजा करते हैं, वह भी मानसिक होता है। उसकी सामग्री भी मानसिक होती है और जो क्रिया की जाती है, वह भी मानसिक ही होती है। इस प्रकारकी पूजामें मनके इधर-उधर जानेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

भगवान्की स्तुति-प्रार्थना भी भावसहित, श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपूर्वक करे। भगवान्के सम्बन्धमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि भगवान् हैं, बहुतोंको मिले हैं, मिलते हैं और मुझे भी मिलेंगे। इस प्रकार भगवान्के अस्तित्व एवं सुलभताके विषयमें विश्वास रखना चाहिये।

विवेकपूर्वक वैराग्य हो और वैराग्यपूर्वक उपरति हो तो शीघ्र संसारसे वृत्तियाँ हटकर परमात्मामें अपने-आप ही लग जाती हैं। चित्तकी प्रीति और चित्तकी वृत्ति—दोनों एक ही जगह रहती हैं। जहाँ हमारी प्रीति होगी, वहाँ हमारे चित्तकी वृत्ति अपने-आप ही लग जायगी, अतः भगवान्में प्रेम बढ़ाना चाहिये। प्रेममें प्रधान हेतु श्रद्धा है और श्रद्धामें प्रधान हेतु अन्तःकरणकी शुद्धि है।

श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७।३)

'हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है ।'

श्रद्धा भी साधारण नहीं, अतिशय—परम श्रद्धा होनी चाहिये । परम श्रद्धा उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर हो । कोई बात प्रत्यक्षमें तो नहीं दीखती, किंतु श्रद्धास्पदके वचनोंमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि वह वस्तु प्रत्यक्षसे भी बढ़कर स्पष्ट दीखने लगे । राजा द्रुपद और उनकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें ऐसी ही श्रद्धा थी । शिखण्डीके विषयमें श्रीशिवजीने उनसे कह रक्खा था कि वह प्रथम लड़कीके रूपमें उत्पन्न होकर फिर लड़का बन जायगा । फलतः राजा द्रुपदको लड़की हुई, किंतु उन्होंने उसे लड़का ही समझा और दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्मा-की लड़कीके साथ उसका विवाह भी कर दिया । प्रत्यक्ष लड़की रहते हुए भी उसे लड़का मान लिया । ऐसा ही विश्वास भगवान्‌के वचनोंमें तथा गीताके वचनोंमें होना चाहिये ।

ज्ञान, वैराग्य, एकान्तवास, निष्कामभाव, नाम-जप, श्रद्धा और प्रेम—ये सभी बहुत मूल्यवान् हैं । इनके संयोगसे भगवान्‌का ध्यान अपने-आप होने लगता है; क्योंकि ये सब ध्यानमें सहायक हैं ।

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है निष्काम कर्मसे तथा भगवान्‌के नामके जप और ध्यानसे । अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति होती है और श्रद्धा होनेसे प्रेम होता है—'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।'—प्रेमके बढ़नेपर मनुष्य भगवान्‌के गुण,

प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको यथार्थरूपसे समझ जाता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य – सभी मूल्यवान् हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—इन सबमें गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका दर्शन किया जाय और गुण-प्रभावका भी तत्त्व-रहस्य समझमें आ जाय तो हृदयका भाव अपने-आप उच्च कोटिका हो जाता है तथा साधकका जीवन ही पलट जाता है, उसकी अवस्थामें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है।

ये सब बातें सुन-सुनकर चित्तमें हर्ष हो, प्रसन्नता हो, शान्ति मिले, आनन्दकी अनुभूति हो, भगवान्‌के मिलनेकी आशा हो जाय तो इससे भी साधककी अवस्था बहुत शीघ्र बदल सकती है और मिनटोंमें भगवान् मिल सकते हैं।

जब चित्तकी अवस्था बदल जाती है, उस समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है, कण्ठ रुक जाता है, शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है, नासिकासे भी जल बहने लगता है, उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय—सबमें आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है।

ऐसी अवस्था न हो तो भगवान्‌के वियोगमें दुःख होना चाहिये और दुःखमें ऐसा अनुभव होना चाहिये कि भगवान्‌के बिना जीवन व्यर्थ है। विरहकी व्याकुलतामें उसकी वैसी ही दशा हो जानी चाहिये, जैसी भरतजी महाराजकी श्रीरामके विरहमें हुई थी। भरतजी-की दशाका चित्रण करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
(रा० च० मा०, उत्तर० १ क)

इसके लिये हमलोगोंको सद्गुण, सदाचार, ईश्वरकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—इन सबको अमृतके समान समझकर हर समय इनका सेवन करना चाहिये और इनके विपरीत दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद, निद्रा और भोग—इन सबको साधनमें महान् विघ्न समझकर इनका स्वरूपसे सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; इन्हें क्षणभरके लिये भी आश्रय नहीं देना चाहिये।

भगवान्के मिलनेमें जो एक-एक क्षणका विलम्ब हो रहा है, वह युगके समान प्रतीत होना चाहिये। भरतजी जब भगवान्से मिलनेके लिये चित्रकूट जा रहे थे, उस समय वहाँ पहुँचनेमें जो विलम्ब हो रहा था, वह उन्हें असह्य हो रहा था। वैसे ही हमलोगोंको भगवान्के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, वह असह्य होना चाहिये। जलके वियोगमें मछलीकी जैसी दशा होती है, जैसी तड़पन होती है, वैसी तड़पन भगवान्के विरहमें होने लगे तो फिर भगवान् मिलनेमें विलम्ब नहीं करते।

साथ ही हमलोगोंको एकनिष्ठ होना चाहिये। जैसे पपीहा एकनिष्ठ होता है, वह आकाशसे गिरी हुई बूँदको ही ग्रहण करता है, भूमिपर पड़ा जल नहीं पीता, चाहे वह गङ्गाजल ही क्यों न हो, उसी प्रकार एक परमात्माके सिवा और कोई भी चीज हमारे कामकी नहीं होनी चाहिये।

ध्यानमें हमारी चकोर पक्षीकी तरह एकाग्रता होनी चाहिये। जब पूर्णिमाका चन्द्रमा उदय होता है, तब चकोर पक्षी उदय होनेसे लेकर अस्त होनेतक उसकी ओर देखता ही रहता है, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ। वह उसे एकटक देखता ही रहता है, उसके अमृतमय स्वरूपका रसपान करता ही रहता है। इसी प्रकार भगवान्‌का ध्यान करते समय उनकी रूप-माधुरीका रसपान करते रहना चाहिये।

रुक्मिणीकी तरह भगवान्‌के विरहमें हमारी व्याकुलता होनी चाहिये। हमें ऐसा निश्चय करना चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे। ऐसी परिस्थितिमें भगवान्‌को बाध्य होकर उस प्रेमीके पास पहुँचना ही पड़ता है। अतः ऐसी निष्ठा होनी चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो जीकर ही क्या करना है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि हमें आत्महत्या कर लेनी चाहिये; अपितु भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें हमारी ऐसी दशा हो जानी चाहिये कि उनके दर्शनके बिना हमारे प्राण निकलनेके लिये छटपटाने लगें।

श्रीभरतजी कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

(रा० च० मा०, उत्तर० प्रारम्भकी चौ०)

'अवधि बीत जानेपर भी भगवान् नहीं पहुँचें और फिर भी मैं जीता रहूँ तो संसारमें मेरे समान पापी कौन होगा?'

ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये हमें चाहिये कि जहाँ-जहाँ

मन जाय, वहाँ-वहाँसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाते रहें। भगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६ । २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे। अर्थात् जहाँ मन जाय, वहाँसे वशमें करके परमात्मामें नियुक्त करे।'

अथवा जहाँ मन जाय वहीं परमात्माको देखे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय

है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

भक्त चार प्रकारके होते हैं—अथार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी । इनमें निष्कामी ज्ञानी श्रेष्ठ है । भगवान् कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(गीता ७ । १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
(गीता ७ । १८)

'ये सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ।'

इस प्रकार उक्त चारों भक्तोंमें ज्ञानीकी भगवान्‌ने विशेष प्रशंसा की है, एकनिष्ठ ज्ञानीको श्रेष्ठ और अपना अतिशय प्यारा कहा है; क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(गीता ४ । ११ का पूर्वार्धं)

'जो भक्त मुझको जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

अतः तन्मय होकर भगवान्‌को भजना चाहिये।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।' क्योंकि उसकी दृष्टिमें मेरे सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं है। लोगोंकी दृष्टिमें तो वह संसारमें रहता हुआ सब काम करता है; पर वास्तवमें वह संसारमें स्थित नहीं है, मुझमें ही स्थित है।

इन सब बातोंको समझकर अपनी स्थिति ज्ञानी महात्माओंकी-जैसी बनानी चाहिये। उच्चकोटिके जो साधक ज्ञानी भक्त हैं, वे निरन्तर भगवान्‌को भजते हैं; अतः उनके लिये भगवान् सुलभ हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इसलिये भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

(गीता १० । ८)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ।'

किस प्रकारसे भजते हैं, इसका उत्तर भगवान्‌के ही शब्दोंमें सुनिये—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

(गीता १० । ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ।'

इस प्रकार वे भक्त मुझे नित्य-निरन्तर प्रेमसे भजते हुए मेरी कृपासे मुझे प्राप्त कर लेते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

'अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ यानी केवट बनकर इस संसार-सागरसे उनको पार कर देता हूँ; इसमें विलम्बका काम नहीं।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।' अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अर्थात् जहाँतक वे साधन कर चुके हैं, उसकी तो रक्षा करता हूँ और जो उनमें कमी है, उसकी पूर्ति करता हूँ। दूसरे शब्दोंमें आजतक जिस वस्तुकी—परम पदकी उन्हें प्राप्ति नहीं हुई, (उसके लिये भगवान् वादा करते हैं कि) उसे मैं प्राप्त करा देता हूँ।

भगवान्‌की इस घोषणापर ध्यान देकर हमलोगोंको ऐसा ही बनना चाहिये । इस प्रकारकी अनन्यभक्तिसे मनुष्य जो चाहता है, वही उसे मिल जाता है । भगवान् कहते हैं —

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गीता ११ । ५४-५५)

'परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुज-रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ । अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों-को करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।'

इसीका नाम एकनिष्ठ भक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अनन्य शरण, अनन्य प्रेम और अनन्य भक्ति है ।

ये सब बातें जो भगवान्‌ने कही हैं, इनके अनुसार मनुष्यको अपना जीवन बनाना चाहिये । इस प्रकारका जीवन बनाकर ही संसारमें जीना धन्य है । संसारके सभी पदार्थ लोगोंकी दृष्टिमें संसारी हैं, अपनी दृष्टिमें नहीं । अपनी दृष्टिमें तो जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सब भगवान्‌के हैं तथा मैं भगवान्‌का और भगवान्

मेरे हैं, मेरी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये ही है—इस प्रकार समझे।

अथवा सबको भगवान्‌का ही स्वरूप समझे। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

अतएव या तो सबमें भगवान्‌को देखे या सबको भगवान् समझता रहे और आनन्दमें मुग्ध होता रहे। इससे स्थिति नीची हो ही क्यों?

संसारसे अपना प्रयोजन ही क्या है? चाहे कुछ भी हो, अपने तो यही समझे कि सब भगवान्‌का है, मैं भगवान्‌का हूँ, सब भगवान्‌में है, मेरी सारी चेष्टा भगवान्‌की प्रेरणासे—उनकी आज्ञासे ही हो रही है या मैं उनके लिये ही सब कुछ कर रहा हूँ, भगवान् जो करवा रहे हैं वही कर रहा हूँ। ये सब भाव भगवान्‌के दर्शनमें सहायक हैं। अतः इस प्रकार समझकर हर समय सर्वत्र भगवान्‌का अनुभव करे, उनको कभी न भूले।

भगवदाश्रयसे लोक-परलोकका कल्याण

लौकिक-पारलौकिक समस्त दुःखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिकी सम्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है भगवान्‌का अनन्य आश्रय लेकर सच्चे मनसे उनका भजन करना और लौकिक-पारलौकिक समस्त सुखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिके सर्वनाशका साधन है—भोगोंका अनन्य आश्रय लेकर मनसे भगवान्‌को भुला देना। आज हम भगवान्‌को भूल गये हैं और हमारा जीवन केवल भोगोंका आश्रयी बन गया है। इसीसे इतने दुःख, संताप और विनाशके पहाड़ हमपर लगातार टूट रहे हैं। जो लोग क्रियाशील और विविध कर्मसमर्थ हैं, उनको भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवान्‌का स्मरण करते हुए समयानुकूल स्वधर्मोचित कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये

और जो अल्पसमर्थ या असमर्थ हैं उन्हें आर्त्त तथा दीनभावसे भगवत्प्रीतिके द्वारा धर्मके अभ्युदय और विश्वशान्तिके लिये अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये।

हमारी अनन्य पुकार कभी व्यर्थ नहीं जायगी। हममें होना चाहिये द्रौपदीका-सा विश्वास, होनी चाहिये गजराजकी-सी निष्ठा और सबसे बढ़कर हममें होनी चाहिये प्रह्लादकी-सी आस्तिकता और निष्काम भाव, जिसके वचनको सत्य करनेके लिये भगवान् नृसिंहरूपसे खम्भेमेंसे प्रकट हुए—'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्।' (भागवत ७। ८। १८)

विपत्ति, कष्ट, असहाय स्थिति, अमङ्गल और अन्याय तभीतक हमारे सामने हैं, जबतक हम भगवान्‌को विश्वासपूर्वक नहीं पुकारते। एक महाशयने यह घटना सुनायी थी। एक घरमें गुंडोंने पतिको पकड़ लिया और दो गुंडे उसकी स्त्रीको नंगी करके उसपर बलात्कार करनेको तैयार हुए। दोनों पति-पत्नी निरुपाय थे—असहाय थे। पत्नीने आर्त होकर—रोकर भगवान्‌को पुकारा। उसे द्रौपदीकी याद आ गयी। बस, तत्काल ही वे दोनों गुंडे आपसमें लड़ गये। एकने दूसरेको छुरा मार दिया। उसके गिरते ही पति-पत्नीको छोड़कर शेष गुंडे भाग गये और इस बीचमें पत्नीको कंधेपर उठाकर पतिको बचकर भाग निकलनेका अवसर मिल गया।

भारतकी सती देवियाँ आज द्रौपदीकी भाँति भगवान्‌को पुकारें तो भगवान् कहीं गये नहीं हैं। वे तुरंत किसी भी रूपमें प्रकट

होकर सती देवियोंके सारे दुःख हर लें और उसी क्षणसे उनको दुःख पहुँचानेवालोंके विनाशकी भी गारंटी मिल जाय।

दुष्ट दुःशासनके हाथोंमें पड़ी हुई असहाया द्रौपदीने आर्त होकर मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करके कहा था—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ॥
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥

(महा० सभा० ६८। ४१-४३)

'हे गोविन्द ! द्वारकावासी सच्चिदानन्द प्रेमघन ! गोपीजन-वल्लभ ! सर्वशक्तिमान् प्रभो ! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह आपको मालूम नहीं है? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे आर्तिनाशन जनार्दन ! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूबी जा रही हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिये ! हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्वात्मा और विश्वके जीवनदाता गोविन्द ! मैं कौरवोंसे घिरकर संकटमें पड़ गयी हूँ। आपके शरण हूँ ! आप मेरी रक्षा कीजिये।

द्रौपदीकी आर्त पुकार सुनकर भक्तवत्सल प्रभु उसी क्षण द्वारकासे दौड़े आये और द्रौपदीको वस्त्र-दान कर उसकी लाज बचायी। पर दुष्ट दुःशासनने द्रौपदीके जिन केशोंको खींचा था,

वे खुले ही रहे । दु:शासनको दण्ड मिलनेके दिनतक द्रौपदीके खुले केश थे । पाण्डवोंके साथ वह वनमें रहती थी । भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये । वहाँ द्रौपदीने एकान्तमें रोकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी बहिन और तुम्हारी सखी होकर भी कौरवोंकी सभामें घसीटी जाऊँ । यह कितने दु:खकी बात है । भीमसेन और अर्जुन बड़े बलवान् होनेपर भी मेरी रक्षा नहीं कर सके ! धिक्कार है इनके बल-पौरुषको ! इनके जीते-जी दुर्योधन क्षणभरके लिये भी कैसे जीवित है ? श्रीकृष्ण ! दुष्ट दु:शासनने भरी सभामें मुझ सतीकी चोटी पकड़कर घसीटा और ये पाण्डव टुकुर-टुकुर देखते रहे ।' इतना कहकर द्रौपदी रोने लगी । उसकी साँस लंबी-लंबी चलने लगी और उसने गद्गद होकर आवेशसे कहा—'श्रीकृष्ण ! ये पति-पुत्र, पिता-भ्राता मेरे कोई नहीं हैं; पर क्या तुम भी मेरे नहीं रहे ? श्रीकृष्ण ! तुम मेरे सम्बन्धी हो । मैं अग्निकुण्डसे उत्पन्न पवित्र रमणी हूँ; तुम्हारे साथ मेरा पवित्र प्रेम है और तुमपर मेरा अधिकार है । एवं तुम मेरी रक्षा करनेमें समर्थ भी हो ! इसलिये तुम्हें मेरी रक्षा करनी ही होगी ।' तब श्रीकृष्णने रोती हुई द्रौपदीको आश्वासन देकर कहा—

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि ।
बीभत्सुशरसंछन्नान् शोणितौघपरिप्लुतान् ॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले ।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।
पतेद् द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत् ॥

शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्।
(महा० वन० १२ । १२८—१३१)

'कल्याणी ! तुम जिनपर क्रोधित हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी थोड़े ही दिनोंमें अर्जुनके भयानक बाणोंसे कटकर खूनसे लथपथ हो जमीनपर पड़े हुए अपने पतियोंको देखकर तुम्हारी ही भाँति रुदन करेंगी। मैं वही काम करूँगा, जो पाण्डवोंके अनुकूल होगा। तुम शोक मत करो। मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम राजरानी बनोगी। चाहे आकाश फट पड़े, हिमालय टुकड़े-टुकड़े हो जाय, पृथ्वी चूर-चूर हो जाय और समुद्र सूख जाय, परंतु द्रौपदी ! मेरी बात कभी असत्य नहीं हो सकती।'

ये द्रौपदीके दुःखोंका नाश करनेवाले भगवान् आज कहीं चले नहीं गये हैं। द्रौपदीके सदृश विश्वासपूर्ण हृदयसे उन्हें पुकारनेवालोंकी कमी हो गयी है। यदि दुःखसागरसे सहज ही पार उतरना है तो विश्वास करके अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये। भारतके हिंदुओंकी यह श्रद्धा जिस दिनसे घटने लगी, जबसे उनकी यह प्रार्थनाकी ध्वनि क्षीण हो गयी, तभीसे उनपर दुःख आने लगे और तभीसे वे सन्मार्ग और सुखके सुपथसे भ्रष्ट हो गये। अब फिर श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारिये। देखिये, आपके इहलौकिक दुःख दूर होते हैं या नहीं और देखिये आपको भगवान्‌की अमृतमयी अनुकम्पासे भगवान्‌के दुर्लभ चरणारविन्दकी प्राप्ति सहज ही होती है या नहीं !

भगवान्का विस्मरण कभी न हो

मनुष्यके लिये सर्वोत्तम बात यह है कि वह एक क्षणके लिये भी भगवान्को न भूले। जो मनुष्य यह नियम ले लेता है कि 'मैं एक क्षणके लिये भी भगवान्को नहीं भूलूँगा' और उसका पालन भी करता है, उसको इसी जन्ममें भगवान्की प्राप्ति होनेमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्की इस घोषणापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इसी क्षणसे मृत्युपर्यन्त मैं जान-बूझकर भगवान्को नहीं भूलूँगा।' ऐसा निश्चय सच्चा होनेपर भगवान् उसमें सहायता करते हैं और अन्तमें उस भक्तकी इच्छा पूर्ण करते हैं। कभी कुछ भूल भी हो जाती है तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं। यदि कोई कहे कि 'अठारह घंटे तो मनुष्य भगवान्का स्मरण कर सकता है, परंतु सोनेके समय छः घंटे उनका स्मरण करना उसके वशकी बात नहीं है, तो इसके लिये यह नियम है कि जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जो काम करता है, स्वप्नमें उसका मन प्रायः उसीकी स्मृतिमें

लीन रहता है। ऐसा देखनेमें आया है कि जो जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखते हैं, स्वप्नमें भी उन्हें भगवान्‌की ही स्मृति रहती है। इतना ही नहीं, जो सोनेके कुछ समय पूर्व ही भगवान्‌का स्मरण करते हैं और स्मरणके बीचमें निद्राग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें भी प्रायः भगवद्-विषयक ही स्वप्न आते रहते हैं। अतएव यह चेष्टा रखनी चाहिये कि होश रहते हुए भगवान्‌का स्मरण न छूटे। जान-बूझकर भगवान्‌को एक क्षणके लिये भी नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि जिस क्षण हमने भगवान्‌को भुलाया, उस समय यदि मन पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य, देवता आदिके चिन्तनमें लग गया और संयोगसे उसी क्षण प्राण छूट गये तो हमारे चिन्तनके अनुसार हमें पशु-पक्षी आदिकी योनि ही प्राप्त होगी। भगवान्‌ने भी कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

यह मानव-जीवनकी कितनी बड़ी हानि है। मानव-जीवनकी दुर्लभतापर विचार करनेसे इस हानिकी भयानकताका कुछ अनुमान हो सकता है। चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता-भटकता जीव जब अत्यन्त दुःखित हो जाता है, तब भगवान् विशेष कृपा करके उसे मानव-देह प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४३ । ३)

ऐसा सुदुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ न जाय, इसके लिये भगवान् उपाय बताते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

भगवान्ने स्मरणकी बात मुख्यरूपमें कही है, युद्ध करनेकी गौणरूपमें । इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्का स्मरण एक क्षणके लिये भी न छूटे, अन्यथा मानव-जीवन व्यर्थ सिद्ध हो सकता है ।

जो मनुष्य भगवान्में अपने मनको लगा देते हैं, उनको निश्चय ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

इसलिये भगवान्ने अर्जुनको आदेश दिया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२।८)

'मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

भगवान् जब इतना विश्वस्त आश्वासन देते हैं, तब फिर हमारे मन-बुद्धि और क्या काम आयेंगे! इन दोनोंको इसी क्षणसे भगवान्के काममें ही लगा देना चाहिये।

बुद्धिको भगवान्में लगा देना यह है कि परमात्मा सब जगह समानभावसे और विज्ञान-आनन्दरूपसे विराजमान हैं, सब जगह आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा और कुछ है ही नहीं—इस प्रकारके ध्यानमें स्थित रहना। इस प्रकारके ध्यानका फल अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति है। बुद्धिमें खूब अच्छी तरहसे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि निराकार रूपमें सब जगह हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर समान-भावसे केवल एक परमात्मा ही हैं।

बुद्धिके इस निश्चयके अनुसार मनसे मनन करना—मनको भगवान्में लगाना है। इसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है।

भगवान्को छोड़कर किसी भी पदार्थका चिन्तन करना अपने गलेमें फाँसी लेकर मरनेके सदृश है; क्योंकि उससे हमारा मानव-जीवन नष्ट हो जाता है। मूल्यवान्-से-मूल्यवान् पदार्थका चिन्तन भी हमें भगवान्की प्राप्ति नहीं करा सकता। इसलिये बड़ी तत्परतापूर्वक ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि भगवान्को

छोड़कर मन और किसी पदार्थके चिन्तनमें लगे ही नहीं। समय बड़ा मूल्यवान् है। मानव-जीवनके गिने-गिनाये श्वास हमें मिले हैं। लाख रुपये खर्च करनेपर भी उससे अधिक एक मिनटका समय भी नहीं मिल सकता। मानव-जीवनके एक क्षणकी कीमत भी नहीं आँकी जा सकती; क्योंकि भगवान्का चिन्तन करनेसे वह क्षण भगवान्की प्राप्ति करा सकता है। फिर समूचे मानव-जीवनकी तो बात ही क्या है। मानव-जीवनका यह महत्त्व इसीमें है कि वह भगवान्की प्राप्तिमें हेतु बन सकता है। अन्य किसी भी योनिमें यह सम्भव नहीं। अतएव मानव-जीवनके समयको खर्च करनेमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। परमात्माके अतिरिक्त दूसरे कामोंमें समय लगानेवालोंको संतोंने मूर्ख कहा है।

सांसारिक पदर्थोंके संग्रहमें लगाया हुआ समय भी व्यर्थ है। मान लीजिये, एक महीनेमें हमारे लाख रुपयेका रोजगार होता है। बारह महीनोंमें बारह लाखका हुआ, तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? रुपयोंकी थैलियाँ यहीं रह जायँगी, जीवको अकेले ही जाना पड़ेगा। हाँ, रुपयोंको बटोरनेमें जो पाप उसने किये हैं, वे अवश्य उसके साथ रहेंगे। अतएव रुपयोंके संग्रहमें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिये—न तो उसके संग्रहके लिये भगवान्को भुलावे और न उसके संग्रहमें पापका आश्रय ले। मरनेपर रुपयोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। गधा ढो-ढोकर मिट्टी इकट्ठी करता है; भगवान्को भूलकर रुपये बटोरना ठीक ऐसा ही है। मरनेपर न गधेके मिट्टी काम आती है और न हमारे रुपया काम आता है। इस न्यायसे मनुष्य-जीवनका समय धन बटोरनेमें क्यों बरबाद किया जाय?

कुछ भाई इस शरीरके पोषणमें समयको लगाते हैं। नाशवान् शरीरके पोषणमें समयका लगाना भी उसका अपव्यय है। विशेष खान-पान, सावधानी आदिसे शरीरमें दस सेर मांस बढ़ गया तो क्या हो गया। आखिर तो मरना ही पड़ेगा। शरीर अधिक भारी हो गया तो लाश (शव) भी भारी होगी। शव ढोनेवाले यही कहेंगे कि 'लाश बड़ी भारी है।' इस मोटापेसे और होगा क्या ? मोटे शरीरके जलनेपर एक-दो सेर राख अधिक हो जायगी। शवकी राख किस कामकी ? किसीकी आँखमें गिरकर वह उसको कष्ट ही दे सकती है। अतएव शरीरको अधिक पुष्ट करनेमें समयको लगानेसे कोई लाभ नहीं।

कुटुम्ब-पालनमें भी भगवान्‌को भूलकर ममता और रागसे युक्त हो समय नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि कुटुम्बका राग तो और अधिक दुःख देनेवाला है। अनन्तकालसे कुटुम्ब हमको धोखा देता चला आ रहा है। आजसे पूर्व भी तो हमलोग किसी कुटुम्बके थे। क्या उसकी अब हमको कुछ स्मृति भी है ? अब हमें कुछ भी स्मरण नहीं है कि पूर्व जन्ममें हम कहाँ थे, हमारा कौन कुटुम्ब था। इसी प्रकार यहाँसे विदा होनेपर यह कुटुम्ब भी याद नहीं रहेगा। सौ-दो-सौ वर्षोंके बाद तो यह कुटुम्ब कहाँ-से-कहाँ चला जायगा, कुछ भी पता नहीं है। अतएव मृत्युके साथ जिससे बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेवाला है, उस अपने कुटुम्बके प्रति मोह-ममता रखकर भगवान्‌को भुला देना और समयको उसके पालन-पोषणमें नष्ट कर देना मानव-जीवनका दुरुपयोग है।

यदि हम मकान बनवानेमें अपने समयको खर्च करते हैं और भगवान्‌को भूल जाते हैं तो यह भी मूर्खता है। मकान बनवा लिया तो न जाने उसका भोग कौन करेगा। जिसको मकानकी आवश्यकता होगी वह अपने-आप मकान बनवा लेगा। हम झूट-साँच करके अपना अमूल्य मनुष्य-जीवन मकान बनानेमें क्यों लगायें। इसी प्रकार संसारके अन्य पदार्थोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। संसारमें जिन-जिन पदार्थों और व्यक्तियोंको हम अपने मान रहे हैं, वे हमारे नहीं हैं; उनसे हमारा वियोग अवश्यम्भावी है। अतएव उनके संग्रह-संरक्षणमें भगवान्‌को भुला देना उचित नहीं। अध्यात्म-दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त सभी कर्म व्यर्थ अथवा अनर्थ हैं। यह मानव-जीवन आत्माके कल्याणके लिये ही मिला है, व्यर्थके भोग भोगनेके लिये नहीं। स्वर्गके भोगोंके लिये प्रयत्नशील होना भी व्यर्थ है। 'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।' अतः आत्माके कल्याणमें सहायक होनेवाले कार्यके अतिरिक्त किसी भी कार्यमें लगना मूर्खता है। आयु क्षण-क्षणमें व्यतीत हो रही है। इसलिये जिस कामके लिये हमलोग आये हैं, उसको शीघ्र कर लेना चाहिये। कालका भरोसा नहीं है। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, कोई नहीं बता सकता। ऐसी परिस्थितिमें एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को भूलना खतरेसे खाली नहीं है।

संसारके जिन-जिन पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध है, वे अवश्य बिछुड़नेवाले हैं। इस शरीरके सभी सम्बन्ध काल्पनिक और

नाशवान् हैं, यों समझकर उनके प्रति मोह-ममताको पहलेसे समेट लें तो उत्तम है। हम विवेकपूर्वक उपर्युक्त प्रकारसे साधन कर लेंगे तो हम मुक्त हो जायँगे और यदि साधन न करनेके कारण हमको विवश होकर इन सम्बन्धोंको तोड़ना पड़ा तो हम भटकते फिरेंगे। जो जन्मा है, उसे अवश्य मरना पड़ेगा। लाख प्रयत्न करनेपर भी मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता। अतः जिस कामके लिये आये हैं, उसे अवश्य कर लेना चाहिये, नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४३)

'जो मनुष्य इस समय सचेत नहीं होता, उसको आगे चलकर सिर धुन-धुनकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वह मूर्ख उस समय काल, कर्म और ईश्वरपर झूठा दोष लगायेगा।' वह यही कहेगा—'कलियुगके कारण मैं अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सका। मेरे कर्म ही ऐसे थे, मेरे भाग्यमें ऐसी ही बात लिखी थी। ईश्वरने मेरी सहायता नहीं की, आदि-आदि।' उसका यह रोना व्यर्थ है—मिथ्या है। अतएव अभीसे सावधान हो जाना चाहिये।

परमात्माकी प्राप्ति स्वयं अपने किये ही होगी। कोई दूसरा हमारे लिये इस कार्यको नहीं कर सकेगा। संसारका कोई काम

बाकी रह गया तो हमारे पीछे हमारे उत्तराधिकारी अथवा दूसरे लोग कर लेंगे; पर परमात्माकी प्राप्तिमें यदि त्रुटि रह गयी तो हमको पुनः जन्म लेना पड़ेगा। अतएव जो काम हमारे ही किये होगा, दूसरेसे नहीं और जिसको करना अनिवार्य है, उसीमें समय लगाना चाहिये।

संसारके सब सम्बन्ध मिथ्या हैं, स्वप्नवत् हैं, मायामात्र हैं। स्वप्नके संसारमें जो कुछ होता है, सब सत्य प्रतीत होता है, परंतु वास्तवमें उसकी सत्ता नहीं। आँख खुलनेपर न तो वह संसार रहता है, न शरीर और न वह व्यवहार ही। इसी प्रकार संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, ये सब शरीरको लेकर ही हैं; शरीर शान्त होनेपर इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जायगा। इसलिये आवश्यकता है इन सम्बन्धोंका त्याग हम मनसे पहलेसे ही कर दें जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न हो।

जबतक मानव-जीवन शेष है, तबतक सब कुछ हो सकता है। परमात्माकी शरण लेकर मनुष्य जो चाहे, वह प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद्में यमराजने नचिकेताके प्रति यह बात कही है कि 'नचिकेतः! ओम् जो परमात्माका नाम है, यही साक्षात् ब्रह्म है; यही सगुण और निर्गुण है। इसकी शरण जानेपर जो चाहो वही मिल सकता है।'

अतएव हम भी भगवान्की शरण लेकर जो चाहें, वह कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि भगवान्की प्राप्तिके सिवा अन्य कोई भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। दूसरी किसी भी वस्तुकी

इच्छा करना मूर्खता है। जगत्‌की जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब प्रारब्धके अधीन हैं। कोई चाहे कि मैं १०० वर्ष जीता रहूँ तो यह असम्भव है। इसी प्रकार कोई यह चाहे कि अभी मृत्यु आ जाय तो चाहनेसे मृत्यु भी नहीं मिल सकती। जब जैसा प्रारब्ध होगा, वैसा ही होगा। अतएव इच्छा करना मूर्खता है। इसी प्रकार भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके विषयमें समझना चाहिये। प्रारब्धवश जब जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा, इच्छा करनेसे नहीं।

भगवान्‌की प्राप्ति ही इच्छासे होती है। इच्छा जहाँ यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य हुई कि भगवान् मिले। भगवान्‌को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। जगत्‌के सभी प्राणी चाहते हैं कि सुख मिले, दुःख नहीं; किंतु अधिकांशको दुःखकी ही उपलब्धि होती है। अतएव जड पदार्थोंके लिये इच्छा करना मूर्खता है; इच्छा करनेसे जड पदार्थ प्राप्त नहीं होते। उनके लिये पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध चाहिये; और वह अब हमारे हाथमें नहीं; पर भगवान्‌के लिये तीव्र इच्छा करनेपर वे अवश्य मिल सकते हैं। अतः भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये और उसे यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान्‌के मिलनेमें जो देर हो रही है, इसमें त्रुटि हमारी ही है। भगवान् तो मिलनेके लिये नित्य आतुर हैं; बस, हममें वैसी इच्छा होनी चाहिये। भगवान्‌के मिलनकी इच्छाकी जागृतिके लिये एकान्तमें बैठकर करुणाभावसे हृदय खोलकर रोना चाहिये। अपने

अपराधोंको स्मरणकर गद्गद होकर भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये—'प्रभो ! आपके अतिरिक्त संसारमें मेरा और कौन है, नाथ ! मैं आपके शरण हूँ, आप मेरी रक्षा करें।' भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अपने सम्मुख होनेवाले मनुष्यके अनन्त जन्मोंके पापोंको उसी क्षण क्षमा कर देते हैं।

अपने आत्माकी उन्नति उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ करनी चाहिये। कल हमने जो साधन किया, उससे आज तीव्र होना चाहिये। आजसे आनेवाले कलको और तीव्र होना चाहिये। इसी प्रकार प्रात:कालसे मध्याह्न; मध्याह्नसे सायंकाल, सायंकालसे रात्रिमें और रात्रिसे अगले दिन प्रात:कालके साधनमें क्रमश: तीव्रता रहनी चाहिये। घंटे-घंटेमें, फिर क्षण-क्षणके साधनमें उत्तरोत्तर तीव्रता होनी चाहिये। यदि इस प्रकारका प्रयत्न किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता।

किसीने कहा है—'पाय परमपद हाथ सो जात, गयी सो गयी अब राख रही को।' पाया हुआ परमपद हाथसे जा रहा है। सचमुच मानव-जीवनको व्यर्थ खोना परमपद हाथसे जानेके सदृश ही है। अतएव जीवनका जो समय बीत गया वह बीत गया; पर अब एक क्षण भी परमात्माकी स्मृतिके बिना न बीते। निरन्तर सावधानी रहे। पूरी तत्परता हुई तो जितना समय जीवनका बचा है, उतना ही पर्याप्त है। इतने समयमें ही भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। यदि कुछ कमी रह गयी तो भी भयकी कोई बात नहीं। दूसरा जन्म होते ही कल्याण हो सकता है, क्योंकि वह

मनुष्य ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है* और उसके चित्तमें स्वाभाविक ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्य रहता है। वहाँ अच्छे सङ्गसे उसका चित्त निरन्तर उन्नति करता जाता है और अन्तमें वह परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

आजकल बिजलीसे चलनेवाली एक मशीन बनी है। उसके सामने जैसी आवाज की जाती है, वह उसको रेकार्ड कर लेती है। अब वह मशीन जहाँ जाती है, उसके साथ वह शब्द भी जाता है। इसी प्रकार हमारे जीवनमें जो-जो कार्य होते हैं, वे संस्काररूपसे अन्तःकरणमें एकत्रित हो जाते हैं और मृत्युके पश्चात् वे हमारे साथ जाते हैं। आगेके जीवनमें ये अच्छे-बुरे संस्कार मनकी स्फुरणामें हेतु बनते हैं। अतः जीवनके नाना कार्योंसे हृदयमें जो बुरे संस्कार एकत्रित हो रहे हैं, उनको मृत्युसे पूर्व धो डालना चाहिये। साबुन और जलसे जिस प्रकार कपड़ा धोकर साफ कर लेते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणमें जो राग-द्वेष और पापरूपी मैल जमा हो गयी है, उसको भगवन्नामरूपी साबुन तथा निष्कामभावरूपी जलद्वारा साफ कर लेना चाहिये। बुद्धि और मनमें अच्छा संग्रह करना चाहिये। बुद्धिमें जो ज्ञान है, वह अच्छा संग्रह है। परमार्थविषयक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। अतएव बुद्धिमें धृति, क्षमा, शान्ति, समता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य—इन सात्त्विक भावोंका संग्रह करना चाहिये। मनमें भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन एवं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी

* अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। (गीता ६।४२का पूर्वार्ध)

बातें एकत्रित करनी चाहिये। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धामका मनन कर लेना चाहिये। इन्द्रियोंको तपस्याद्वारा तपाकर शुद्ध कर लेना चाहिये। फिर मनसे इन्द्रियोंद्वारा भगवान्‌के दर्शन, भगवान्‌के साथ सम्भाषण, भगवान्‌का स्पर्श आदि करना चाहिये। अर्थात् मनसे ऐसी भावना करें कि भगवान् हमारे सामने खड़े हैं, हमारी ओर देख रहे हैं, हम उनका दर्शन कर रहे हैं, उनके चरणोंका हाथोंसे स्पर्श कर रहे हैं, उनके श्रीविग्रहसे निस्सरित दिव्य गन्ध ले रहे हैं, भगवान्‌से वार्तालाप कर रहे हैं, भगवान्‌की वाणीको कानोंसे सुन रहे हैं।

हाथोंसे जीवमात्रकी भगवान् नारायणकी भावनासे सेवा करनी चाहिये। वाणीसे सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये। नेत्रोंसे भगवान्‌को, संतोंको अथवा उत्तम दृश्योंको देखना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियको शुद्ध बनाकर उसमें ऐसे भाव भरने चाहिये, जो मुक्तिमें सहायक हों। यदि इस जीवनमें काम न बने तो उत्तम संस्कार तो हमारे साथ जायँ। निष्कामभावसे यह सब करना परम हितकर है। सावधानीके साथ इन सबका अभ्यास करनेसे हृदयमें जो दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, मल, विक्षेप, आवरण, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि बुरे संस्कार हैं, वे बहुत शीघ्र सर्वथा धुल जाते हैं, एवं हृदय भक्ति-ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और सद्गुणोंसे भर जाता है। वस्तुतः दैवी सम्पत्ति तथा शरीर, वाणी और मनका तप—ये अमृततुल्य हैं और राजसी एवं तामसी भाव विष हैं, इनसे मनुष्यका पतन निश्चित है।

सर्वोत्तम एवं सबसे सरल साधन है—भगवान्‌का चिन्तन।

भगवान्‌का चिन्तन प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर करना चाहिये; पर यदि प्रेम न भी हो तो भगवान्‌का चिन्तन हृदयको शुद्ध करता ही है। भगवान्‌का चिन्तन यदि कोई वैर-भावसे द्वेषवश या भयसे भी करता है तो उसका भी कल्याण हो जाता है। मारीचने भगवान् रामका भयसे चिन्तन किया, उसका उद्धार हो गया। कंसने भगवान्‌का द्वेषभावसे चिन्तन किया, उसका भी कल्याण हो गया। फिर जो प्रेमपूर्वक करुणभावसे भगवान्‌का चिन्तन करे, उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है? ब्रजकी गोपियोंका उदाहरण प्रत्यक्ष है। गोपियोंने प्रेमपूर्वक करुणभावसे भगवान्‌का चिन्तन किया, तब उनके उद्धारमें तो कहना ही क्या है। अतएव मन जहाँ भी जाय, वहीं भगवान्‌को देखे। रातको चिन्तन करते-करते ही सोया जाय। रातमें जब-जब निद्रा टूटे, जब-जब उठना पड़े, तब-तब मनकी सँभाल कर लेनी चाहिये कि चिन्तन हो रहा है न।

एकान्तमें जप-साधन करनेके लिये बैठे तो प्रारम्भमें भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना, अर्थ और भावको समझते हुए अवश्य करनी चाहिये। गीता, रामायण आदिका स्वाध्याय अर्थ और भावको समझकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करना चाहिये। तदनन्तर सत्संग करना चाहिये। वेदोंसे हमें चेतावनी मिलती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और महापुरुषोंके पास जाकर उनसे जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको समझो।'

समय रहते चेत हो जाय तो ठीक है, अन्यथा—

समय चुकें पुनि का पछिताने।

मृत्यु सिरपर आ खड़ी होगी, तब कुछ भी उपाय नहीं चलेगा। तुलसीदासजीने कितने कड़े शब्दोंमें चेतावनी दी है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंद मति आत्माहन गति जाइ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४४)

'जो मनुष्य उत्तम देश, उत्तम जाति, उत्तम काल, उत्तम धर्म, उत्तम सङ्ग—इन सबका सुन्दर सुयोग पाकर भी भवसागरको पार नहीं करता, वह निन्दाका पात्र और मन्दमति है। आत्महत्यारेकी जो गति होती है, वही उसकी भी होगी।'

श्रीनारायण स्वामी कहते हैं—

दो बातन को भूल मत जो चाहै कल्यान।
नारायण इक मौत को दूजे श्रीभगवान॥

'यदि अपना कल्याण चाहते हो तो दो बातोंको मत भूलो—एक मौतको और दूसरे भगवान्‌को'। भगवान्‌को याद रखनेसे पापोंका नाश होकर कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है और मृत्युको याद रखनेसे आगे पाप नहीं बनते।

और कुछ भी न हो तो भगवान्‌का जो भी नाम प्रिय लगे, उसे ही नित्य-निरन्तर रटते जाइये—वही आपको निहाल कर देगा—

केशव केशव कूकिये नहिं कूकिये असार।
रात दिवस की कूक तें कबहुँ तो सुने पुकार॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तियोग

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रोंका और विशेषकर उपनिषदोंका सार है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने महाभारतके भीष्मपर्वमें कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(४३। १-२)

'केवल गीताका ही भलीभाँति गान (श्रवण, कीर्तन, पठन, पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है। गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, श्रीगङ्गा सर्वतीर्थमयी है और मनुस्मृति सर्ववेदमयी है।'

इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी यह कहा है कि सब शास्त्रोंमें जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ तू मुझसे सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

(गीता १३। ४)

'यह तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक निरूपित है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

अतएव हमलोगोंको गीताका भलीभाँति अध्ययन और मनन करना चाहिये; क्योंकि मनन करनेपर उसमें भरे हुए गोपनीय तत्त्वका पता लगता है। अब यहाँ गीतामें वर्णित भक्तिके विषयमें कुछ विचार किया जाता है—

गीता भक्तिसे ओतप्रोत है। गीतामें कहीं तो भेदोपासनाका वर्णन है और कहीं अभेदोपासनाका। कितने ही सज्जन कहते हैं कि पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगकी, बीचके छः अध्यायोंमें भक्तियोगकी और अन्तके छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता है। पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोग और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता तो मानी जा सकती है; किंतु सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक तो भक्ति-ही-भक्ति भरी है; अतः इन सभी अध्यायोंको भक्तियोग ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं; क्योंकि इनमेंसे अधिकांशमें तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारका ही वर्णन है, किसी-किसी स्थलमें निर्गुण-निराकारकी उपासनाका भी उल्लेख है। इन छहों अध्यायोंमें कुल २०९ श्लोक हैं। इनमें जो एक गोपनीय रहस्यकी बात है, उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

इन सभी श्लोकोंपर भलीभाँति ध्यान देकर देखनेसे पता लगता है कि प्रायः प्रत्येक श्लोकमें ही किसी-न-किसी रूपमें भगवद्-वाचक पद आया है। जहाँ भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं, वहाँ तो अहम्, माम्, मया, मत्तः, मम, मे, मयि और अस्मि आदि पदोंका प्रयोग है एवं अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, त्वया, त्वत्तः, तव, ते, भवान्

और असि तथा जनार्दन, पुरुषोत्तम, देव, देवेश, जगन्निवास आदि पदोंका प्रयोग है। इसी प्रकार संजयके वचनोंमें भी स्पष्ट ही हरि, देव, देवदेव, केशव, कृष्ण, वासुदेव आदि भगवद्वाचक शब्द आये हैं। अधिकांश शब्द तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारके ही वाचक हैं, पर कितने ही शब्द निर्गुण-निराकारके वाचक भी हैं—जैसे ॐ, अक्षर, अव्यक्त, ब्रह्म आदि।

इन २०९ श्लोकोंमेंसे अधिकांशमें भगवान्‌के द्योतक शब्द ही हैं, केवल इनका दसवाँ अंश अर्थात् २१ श्लोक ऐसे हैं, जिनमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं। किंतु वे भी भाव और प्रकरणके अनुसार भक्तिसे पृथक् नहीं हैं। इनमेंसे आठवें अध्यायमें ऐसे ९ श्लोक हैं, शेष पाँच अध्यायोंमेंसे प्रत्येकमें दो या तीन श्लोकसे अधिक ऐसे नहीं हैं। पाँचों अध्यायोंमें कुल मिलाकर १२ श्लोक ही ऐसे आये हैं, जिनमें प्रकटरूपमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं—जैसे सातवें अध्यायका २०वाँ और २७वाँ; नवें अध्यायका २रा, १२वाँ और २१वाँ; दसवेंका ४था और २६वाँ, ग्यारहवेंका ६ठा और १०वाँ एवं बारहवेंका १२वाँ, १३वाँ और १८वाँ।

जिनमें कर्मयोगकी प्रधानता मानी गयी है, उन अध्यायों-(१–६) में भी कोई भी अध्याय भक्तिके वर्णनसे खाली नहीं है। पहले अध्यायमें संजय और अर्जुनके वचनोंमें माधव, हृषीकेश, अच्युत, कृष्ण, केशव, मधुसूदन, जनार्दन, वार्ष्णेय आदि भक्तिभावसे ओतप्रोत भगवद्वाचक शब्द आये हैं। दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें तो भगवत्-शरणागतिका भाव स्पष्ट ही है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

'साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण (शरण) होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है।'

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सब कर्म भगवान्‌के समर्पण करनेका भाव है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।'

चौथे अध्यायमें तो स्वयं भगवान् कहते हैं कि मैं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ और श्रेष्ठ पुरुषोंके उद्धार, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मकी संस्थापनाके लिये समय-समयपर अवतार लेता हूँ—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(गीता ४ । ६)

'अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४।८)

'श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये. पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

इसके बाद भगवान्ने अपने जन्म और कर्मकी दिव्यता जाननेका महत्त्व बतलाया है। जन्मकी दिव्यता यह कि भगवान्का जन्म अलौकिक है, मनुष्योंकी भाँति पुण्य-पापके फलस्वरूप उत्पन्न नहीं है तथा न वे प्रकृतिके परतन्त्र ही हैं। वे केवल उत्पन्न और विनष्ट होते-से दिखायी पड़ते हैं, मनुष्योंकी भाँति जन्मते-मरते नहीं, अतः वास्तवमें उनका जन्म-मरण नहीं होता, केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है। उनका विग्रह रोग-शून्य, दोषरहित और चिन्मय होता है। वे अपनेपर मायाका पर्दा डाल लेते हैं, इसलिये उनको कोई पहचान नहीं सकता (गीता ७।२५)। जो भक्त भगवान्के शरण होकर उनको श्रद्धा-प्रेमसे भजता है, वही उनको यथार्थरूपसे जानता है। वे अपनी इच्छासे प्रकृतिको वशमें करके स्वयं अजन्मा और अविनाशी रहते हुए ही श्रेष्ठ पुरुषोंके कल्याण और धर्मके प्रचारके लिये अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं (गीता ४।६, ८)। यह उनके जन्मकी दिव्यता है। तथा कर्मकी दिव्यता यह है कि उनकी सारी चेष्टाएँ अभिमान, आसक्ति और कामनासे रहित एवं केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं (गीता ४।१३-१४)। इसलिये उनके कर्म दिव्य हैं। इस

प्रकार समझकर इस समझको काममें लाना ही भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताका तत्त्व-रहस्य जानना है।

इस चौथे अध्यायमें भगवान्ने अपनी भक्तिकी महिमामें यहाँतक कह दिया कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं; मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

पाँचवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तो भगवान्ने अपने स्वरूप, प्रभाव और गुणोंका तत्त्व जाननेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाया ही है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

'जो भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार जो भगवान्को यज्ञ-तपोंका भोक्ता, समस्त लोकोंका महेश्वर तथा समस्त प्राणियोंका सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त जाननेवाले भी शान्ति

मिल जाती है। इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌को उपर्युक्त लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है, फिर तीनों लक्षणोंसे युक्त जाननेवालेको शान्ति मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

यहाँ भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता कहनेका अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान, तप आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबका पर्यवसान परमात्मामें ही होता है। जैसे आकाशसे बरसा हुआ जल समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, वैसे ही सारे कर्म परमात्मामें ही समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर नवें अध्यायके २७वें, २८वें श्लोकोंमें वर्णित भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करनेवाला पुरुष परमशान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। भाव यह है कि पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य, देवता आदि सभी प्राणियोंमें भगवान् विराजमान हैं; अतः उनकी सेवा-पूजा ही भगवान्‌की सेवा-पूजा है (गीता १८। ४६)—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे सेवा करनी चाहिये। जो इस प्रकार सबकी सेवा करता है, वह सेवा करते समय अर्थात् अतिथिको भोजन, गायको घास, कौए आदिको अन्न एवं वृक्षोंको जल प्रदान करते समय यही समझता है कि भगवान् ही अतिथिके रूपमें भोजन कर रहे हैं, वे ही गायके रूपमें घास खा रहे हैं, वे ही कौए आदिके रूपमें अन्न ग्रहण कर रहे हैं और वे ही वृक्षके रूपमें जल पी रहे हैं। इस प्रकारके भावसे भावित होकर सबकी निष्काम सेवा करना ही तत्त्वसे भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता जानना है और ऐसा जाननेवाला मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है।

भगवान्‌को सर्वलोकमहेश्वर जाननेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं। वे ही समस्त संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको नियन्त्रणमें रखते हैं, इसलिये उनको परमात्मा पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा गया है (गीता १५। १७-१८)। जो उन परमात्माको क्षर-अक्षरसे तथा सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंसे श्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वर समझ लेता है, वह फिर उन परमात्माको छोड़कर अन्य किसीको भी कैसे भज सकता है। स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक पदार्थोंसे न तो वह प्रेम करता है और न उनका चिन्तन ही करता है। वह तो सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का ही भजन-ध्यान करता है (गीता १५। १९)। अतः उपर्युक्त प्रकारसे समझना ही भगवान्‌को तत्त्वसे सर्वलोकमहेश्वर जानना है और इस प्रकार जाननेवाला मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है।

भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् जाननेका भाव यह है कि भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित और प्रेम भरा रहता है। उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे शून्य नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं। जो पुरुष इस रहस्यको जान लेता है, वह फिर प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको परम दयालु परम प्रेमी परमेश्वरका दया और प्रेमसे ओतप्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है तथा भगवान्‌का अनुयायी और परम प्रेमी बन जाता है। उसमें भी सुहृदताका

भाव आ जाता है अर्थात् वह भी सबपर हेतुरहित दया करनेवाला और सबका प्रेमी हो जाता है। उसमें द्वेषभावका नाश होकर क्षमा और समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं तथा उसके मन और बुद्धिका स्वाभाविक ही भगवान्में समावेश हो जाता है। इस प्रकार उसमें गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वें श्लोकतक वर्णित भक्तके सभी लक्षण आ जाते हैं। इसलिये वह परमशान्तिको पा लेता है।

छठे अध्यायमें ११वेंसे १३वें श्लोकतक आसनकी विधि बतलाकर १४वें श्लोकमें भगवान्ने अपने सगुण-स्वरूपका ध्यान[1] करते हुए शरण होनेके लिये कहा है। वे कहते हैं—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

तथा इसी अध्यायके ३०वें श्लोकमें सर्वत्र भगवान्को देखनेका यह माहात्म्य बतलाया गया है कि सर्वत्र भगवान्को देखनेवाला मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता है और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता हूँ।

इसी प्रकार इस अध्यायके ३१वें और ४७वें श्लोकोंमें भी

---

१. सगुण-साकारके ध्यानके विषय में विस्तारसे जानना हो तो इस श्लोककी गीताप्रेससे प्रकाशित तत्त्व-विवेचनी टीका देख सकते हैं।

भक्तिका भाव सर्वथा ओतप्रोत है ! अतः समझना चाहिये कि कर्मयोगप्रधान कहे जानेवाले अध्यायोंमें भी कोई भी अध्याय भक्तिसे शून्य नहीं है ।

इसी तरह जिन (१३वेंसे १८वें तक) छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता बतलायी जाती है, उनमें भी कोई-सा भी अध्याय भक्तियोगके वर्णनसे खाली नहीं है। उदाहरणके लिये तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा गया है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

(गीता १३ । १० का पूर्वार्ध)

'मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति (भी ज्ञानका साधन है) ।'

चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय बतलाते हुए भी स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गीता १४ । २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है ।'

यहाँ अनन्यभक्तिको गुणोंसे अतीत होनेका उपाय बतलाया गया है ।

पंद्रहवें अध्यायमें परमपदकी प्राप्तिका उपाय तीव्र वैराग्यके

द्वारा संसाररूप वृक्षको काटकर भगवान्‌के शरण होना बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥
(गीता १५।४)

'दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा संसार-वृक्षका छेदन करनेके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ'—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।

तथा १६वें श्लोकसे क्षर और अक्षरका वर्णन करके जिसे परमात्मा, ईश्वर और पुरुषोत्तम आदि नामोंसे निरूपित किया गया है, उस परमतत्त्वको वास्तविक रूपमें जाननेवालेकी कसौटी 'सब प्रकारसे भजना' ही बताया गया है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गीता १५।१९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें दैवी सम्पदाके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

'निर्भयता, अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धि और ज्ञानयोगमें दृढ़ स्थिति (—ये दैवी सम्पदाके प्रधान लक्षण हैं)।'

यहाँ 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' का अर्थ तत्त्वज्ञानके लिये परमात्माके ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति किया जाता है, जो भक्तिभावका ही द्योतक है।

सत्रहवें अध्यायमें २३वेंसे २७वें श्लोकतक परमात्माके ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम बतलाकर इनका किस प्रकार प्रयोग करनेसे कल्याण होता है, इसका स्पष्टतया वर्णन किया गया है।

अठारहवें अध्यायकी तो बात ही क्या है। उसका तो भगवान्‌ने शरणागतिमें ही उपसंहार किया है। वहाँ कर्मयोगके प्रकरणमें भी भक्तिका वर्णन है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तथा ज्ञानयोगके प्रकरणमें भी भक्ति (उपासना) की आवश्यकता बतलायी है।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
(गीता १८ । ५२का उत्तरार्ध)

दृढ़ वैराग्यका आश्रय ले नित्य-निरन्तर परमात्माके ध्यानरूप योगके परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है) ।'

एकान्तवास और ध्यानयोगपूर्वक ज्ञाननिष्ठाके द्वारा जिस परम-पदकी प्राप्ति होती है, उसी परमपदकी प्राप्ति मनुष्यको गोपियोंकी भाँति* सर्वदा भगवान्‌के शरण होकर अपने कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी होती है । भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
(गीता १८ । ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता

---

* भक्तिमती गोपियाँ किस प्रकार भक्ति करती हुई सब कार्य किया करती थीं, इसका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ४४वें अध्यायके १५वें श्लोकमें इस प्रकार मिलता है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देना आदि काम-काज करते समय, प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णके ही स्वरूपमें चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं ।'

हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।'

इस प्रकार भगवान्‌ने अपनी शरणागतिरूप भक्तिका माहात्म्य बतलाकर अर्जुनको सब प्रकारसे अपनी शरण ग्रहण करनेका आदेश दिया है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।

(गीता १८ । ५७; ५८ का पूर्वार्ध)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और निरन्तर मुझमें चित्तको लगाये रह ! इस प्रकार मुझमें चित्त लगाये रहकर तू मेरी कृपासे समस्त संकल्पोंको अनायास ही पार कर जायगा ।'

यहाँ भगवान्‌ने अपने सगुण-साकार स्वरूपकी भक्तिके लक्षणोंका वर्णन करके, अर्जुनको अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देकर उसका महत्त्व बतलाया है । यद्यपि सगुण-निराकारकी शरण-का भी फल परम शान्ति और शाश्वत पदकी प्राप्ति है; किंतु उसे गुह्यतर ही कहा गया है, गुह्यतम नहीं । भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।

(गीता १८ । ६२, ६३ का पूर्वार्ध)

'हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस सर्वव्यापी परमेश्वरकी

शरणमें चला जा। उस परमात्माकी कृपासे तू परम शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया।'

भगवान्‌ने गुह्यतम तो अपनी शरणागतिरूप भक्तिको ही बतलाया है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६४—६६)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अतिगोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। तू मुझमें मन लगा दे, मेरा भक्त बन जा, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्याग करके यानी अर्पण करके तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इसे सर्वगुह्यतम कहनेका अभिप्राय यह है कि ६२वें और ६३वें श्लोकोंमें तो सर्वव्यापी निराकार परमात्माके शरण जानेको

गुह्यतर ही कहा है, किंतु यहाँ स्वयं भगवान् प्रकट होकर अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तू मेरी शरणमें आ जा।' इस प्रकार प्रकट होकर अपना परिचय देना अर्जुन-जैसे अपने अत्यन्त प्रेमी भक्तके सामने ही सम्भव है। दूसरोंसे यह नहीं कहा जा सकता कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तुम मेरी शरणमें आ जाओ।'

यहाँ ६४वें श्लोकमें 'तू मेरा सर्वगुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर भी सुन' कहकर भगवान्‌ने पहले नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें कहे हुए वचनकी ओर संकेत किया है। वहाँ ३२वें श्लोकमें तो शरणागतिका माहात्म्य है और ३४वें श्लोकमें उसका स्वरूप है। उसे भी गुह्यतम कहा है। नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें 'अनसूयवे' पदसे अर्जुनको उसका परम अधिकारी मानकर और गुह्यतम रहस्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके गुह्यतम, राजगुह्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए जिस शरणागतिरूप भक्तिकी बात कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसीका उस अध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया एवं अन्तमें ३४वें श्लोकमें शरणागतिका स्पष्ट उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति की है। भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९।३४)

'मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यहाँ बतलाये हुए शरणागतिरूप भक्तिके चारों साधनोंमेंसे एक साधनके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती हैं या चारोंके ? इसका उत्तर यह है कि एकके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है; फिर चारोंके अनुष्ठानसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है !

केवल 'मन्मना भव'—भगवान्में मन लगानेके साधनसे ही भगवत्प्राप्तिका कथन इसी अध्यायके २२वें श्लोकसे समझना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

यहाँ अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना ही उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम वहन करना है।

भक्तिमार्गमें यह एक विशेषता है कि साधक भक्तके किये हुए साधनकी रक्षा और उसके साधनकी कमीकी पूर्ति भी भगवान् कर देते हैं। यहाँ रक्षा करनेका यह अभिप्राय है कि यदि कोई भक्त भगवान्से कोई सांसारिक वस्तु माँगता है तो भगवान् उसके माँगने-

पर भी यदि उससे उसका अहित समझते हैं तो वह वस्तु उसे नहीं देते। जैसे नारदजीने भगवान्‌से हरिका रूप माँगा था, किंतु उसमें उनका अहित समझकर 'हरि' शब्दका अर्थ बंदर भी होनेके कारण भगवान्‌ने उनको बंदरका रूप दे दिया और इसके परिणामस्वरूप उनके शापको भी भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया; परंतु अपने भक्तको कञ्चन और कामिनीसे उसी प्रकार बचा लिया, जिस प्रकार एक हितैषी सद्वैद्य रोगीको कुपथ्यसे बचा लेता है।

केवल 'मद्भक्तो भव'—भगवान्‌की भक्तिके साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति इसी अध्यायके ३०वें और ३१वें श्लोकोंमें बतलायी गयी है।

केवल 'मद्याजी भव'—भगवान्‌की पूजासे भगवत्प्राप्तिकी बात इसी अध्यायके २६वें श्लोकसे समझनी चाहिये। भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिपूर्वक खाता हूँ।'

यहाँ भी यह जिज्ञासा होती है कि इस श्लोकमें पत्र, पुष्प फल, जल—इन चार पदार्थोंके अर्पणकी बात कही गयी है, अतः इन चारोंके समर्पणसे भगवान् प्रकट होकर उनकी भेंट स्वीकार

करते हैं या एकके समर्पणसे भी ? इसका उत्तर यह है कि प्रेमपूर्वक एकके समर्पणसे भी भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं; क्योंकि इसमें क्रियाओं और पदार्थोंकी प्रधानता नहीं है, प्रेमकी प्रधानता है। प्रेम होनेसे चारोंमेंसे एकको अर्पण करनेपर भी उसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं। जैसे—द्रौपदीके[1] केवल पत्ता अर्पण करनेसे, गजेन्द्रके[2] केवल पुष्प भेंट करनेसे, भीलनीके[3] केवल फल अर्पण करनेसे और राजा रन्तिदेवके[4] केवल जल अर्पण करनेसे ही भगवान्‌ने प्रकट होकर उनके दिये हुए पदार्थको ग्रहण किया था। इस प्रकार ये सभी एक-एक पदार्थके अर्पण करनेसे ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये। तब फिर सब प्रकारसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवालेको भगवान् मिल जायँ इसमें तो कहना ही क्या है।

इसी प्रकार केवल 'नमस्कुरु'—नमस्कार करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, किंतु गीतामें भगवान्‌ने नमस्कारके साथ कीर्तन आदि भक्तिके अन्य अङ्गोंका भी समावेश कर दिया है—

---

१. द्रौपदीकी यह कथा महाभारत, वनपर्वके २६३वें अध्यायमें देख सकते हैं।

२. गजेन्द्रकी कथा श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके दूसरे, तीसरे अध्यायोंमें देख सकते हैं।

३. भीलनीकी कथा श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देख सकते हैं।

४. महाराज रन्तिदेवकी कथा श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके २१वें अध्यायमें देख सकते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

(गीता ९ । १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें तो केवल नमस्कारमात्रसे भी संसारसे उद्धार होना बतलाया गया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

(महा० शान्ति० ४७ । ९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी किया हुआ प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अन्तमें किये जानेवाले अवभृथस्नानके समान होता है । इतना ही नहीं, दस अश्वमेधयज्ञ करनेवाला तो उसके फलको भोगकर पुनः संसारमें जन्म लेता है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता ।'

ऊपर बतलाया जा चुका है कि नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिको सबसे गुह्यतम, राजगुह्य और विज्ञानसहित ज्ञान बतलाकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है एवं उसको बहुत उत्तम और सुगम बतलाया है । ऐसा सुगम साधन होनेपर भी सभी मनुष्य उसमें नहीं लगते, इसमें श्रद्धाका न होना ही कारण है । भगवान् कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥
(गीता ९ । ३)

'हे परंतप ! उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ।'

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिसकी भक्तिके साधनमें श्रद्धा नहीं, उसका संसारमें यानो चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना तो सर्वथा सम्भव है, पर यहाँ उसके साथ ही 'मुझे न प्राप्त होकर' कहनेकी क्या आवश्यकता है, जब कि उसे भगवान्‌के प्राप्त होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि 'मुझे न प्राप्त होकर' कथनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रका परमात्माकी प्राप्तिमें जन्मसिद्ध अधिकार है। जैसे राजाके पुत्रका उस राज्यपर जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार होते हुए भी पितामें श्रद्धा-भक्ति न होनेके कारण वह उस राज्यसे वञ्चित किया जाय तो कोई दोषकी बात नहीं होती, उसी प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिमें मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार होते हुए भी भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम न होनेके कारण कोई उससे वञ्चित रह जाय तो अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये; क्योंकि उठते-बैठते, सोते-जागते, हर समय भगवान्‌का स्मरण करना सर्वोत्तम है। हर समय भगवान्‌का स्मरण करनेसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण स्वाभाविक ही हो जाता है और अन्तकालके स्मरणका बड़ा भारी महत्त्व है। भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
(गीता ८ । ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर यहाँसे जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

यदि कहें कि भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवालेका तो भगवान् उद्धार कर देते हैं और जो उन्हें स्मरण नहीं करता, उसका उद्धार नहीं करते तो क्या भगवान् भी अपना मान-बड़ाई करनेवालेका ही पक्ष रखते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने यह नियम बनाया है कि मृत्युके समय जो मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता, पितर आदि किसी भी स्वरूपका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उसी-उसीको प्राप्त होता है (गीता ८ । ६) इस न्यायसे भगवान्‌को स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्‌को प्राप्त होता है । अतः उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌में पक्षपात या विषमताका कोई दोष नहीं आता । भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी भक्त हनुमान्‌के प्रति कहा है--

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥
(२।४)

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'भगवान् जब समदर्शी होकर भी अपना भजन करनेवालेके लिये ही यह कहते हैं कि 'वह मेरे हृदयमें है और मैं उसके हृदयमें हूँ; तब क्या यह विषमता नहीं है।' इसका उत्तर यह है कि सूर्य सबके ऊपर समानभावसे प्रकाश डालते हैं, पर दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, काष्ठ आदिमें नहीं, और सूर्यमुखी शीशा तो सूर्यकी किरणोंको खींचकर रूई, कपड़ा आदिको भस्म भी कर डालता है। यह उस पदार्थकी विशेषता है, इसमें सूर्यमें कोई विषमता नहीं है। वैसे ही भगवान्‌के भक्तके प्रेमकी ही उपर्युक्त विशेषता है, उससे भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता।

इसलिये हर समय भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करना चाहिये; क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है; पता नहीं, कब प्राण चले जायँ। हर समय स्मरण करनेवाले भक्तको अन्तकालमें भगवान्‌की स्मृति स्वाभाविक हो ही जाती है। जो पुरुष नित्य-निरन्तर परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता रहता है, वह भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करता हुआ उस परम दिव्य पुरुष परमात्माको पा लेता है तथा जो इन्द्रियों और मनको सब ओरसे रोककर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्माके नामका उच्चारण और उनके स्वरूपका ध्यान करता हुआ शरीर छोड़कर

जाता है, वह निश्चय ही परम गतिको प्राप्त हो जाता है (गीता ८ । ८—१३) ।*

अतएव ज्ञानयोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सबमें भगवद्भक्ति सर्वोत्तम है । भगवान्‌ने छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

इसी प्रकार अर्जुनके पूछनेपर बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भी भगवान्‌ने अपने भक्तोंको सबसे उत्तम बतलाकर भक्तिका महत्त्व प्रदर्शित किया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ।'

भक्ति सुगम होनेसे उत्तम है, इतनी ही बात नहीं है; भक्तिके

---

* इस विषयका विस्तार देखना हो तो गीता-तत्त्वविवेचनी टीकामें आठवें अध्यायके ८वेंसे १३वें श्लोकतककी टीका पढ़ सकते हैं ।

मार्गमें यह विशेषता है कि भक्त अपने नेत्रोंद्वारा भगवान्‌को देख सकता है (गीता ११ । ५४) तथा भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प-फलादिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर खाते हैं (गीता ९ । २६) । यह बात ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग या कर्म-योगसे सम्भव नहीं । इसलिये भक्तिको सर्वोत्तम कहना शास्त्रसंगत और युक्तियुक्त है ।

इसके सिवा, अनन्य चित्तसे नित्य-निरन्तर स्मरण करनेवालेको भगवान् अनायास ही मिल जाते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्य-चिन्तन करनेवाले भक्तको सहज ही भगवान् मिल जाते हैं—इतना ही नहीं; उसका भगवान् संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार भी कर देते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें

अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार कर देता हूँ ।'

अतएव हमलोगोंको अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये । संसारमें एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई परम हितैषी नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—यह समझकर जो भगवान्के प्रति अत्यन्त श्रद्धासे युक्त प्रेम किया जाता है—जिस प्रेममें स्वार्थ और अभिमानका जरा भी दोष नहीं है, जो सर्वथा पूर्ण और अटल है, जिसका जरा-सा अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रके लिये भी भगवान्का विस्मरण असह्य हो जाता है—उसे 'अनन्य भक्ति' कहते हैं । ऐसे अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करना एवं उनके परम पावन नामोंका उच्चारण और जप करना ही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है । इस प्रकारके अनन्य भक्तका भगवान् तत्काल ही उद्धार कर देते हैं ।

चाहे मनुष्य कितना भी पापी क्यों न हो, भक्तिके प्रभावसे उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश ही नहीं हो जाता, अपितु वह परम धर्मात्मा बन जाता है और फिर उसे परम शान्ति मिल जाती है । गीताके नवें अध्यायके ३०वें, ३१वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर और उनके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

संसार-सागरसे जीवका उद्धार होना बहुत ही कठिन है, किंतु भगवान्‌की शरणसे यह कठिन कार्य भी सुसाध्य हो जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७। १४)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको लाँघ जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान भी

हो जाता है और ज्ञानके साथ ही भगवान् भी उसे मिल जाते हैं। भगवान् स्वयं अपने उस अनन्य भक्तको वह ज्ञान प्रदान कर देते हैं, जिससे उसे उनकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १० । ८-१०)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं। वे निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्व-ज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

बात यह है कि जो मनुष्य भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जान लेता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको

प्राप्त हो जाता है (गीता १० । ३, ८)। भगवान्के स्वरूप और प्रभावका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके ७वेंसे १२वेंतक, नवें अध्यायके १६वेंसे १९वेंतक एवं पंद्रहवें अध्यायके १२वेंसे १५वें श्लोकतक तथा और भी अनेक स्थलोंमें किया गया है। उन सबका सार भगवान्ने दसवें अध्यायके ४१वें, ४२वें श्लोकोंमें बतलाया है। वे कहते हैं—

यद्‌ यद्‌ विभूतिमत्‌ सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्‌ तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्‌ ॥

(गीता १० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात्‌ ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके एक अंशकी ही अभिव्यक्ति (प्राकट्य) जान।'

भाव यह है कि दसवें अध्यायके ४थे श्लोकसे ६ठेतक तथा १९वें श्लोकसे ४०वेंतक तथा गीताके अन्यान्य स्थलोंमें जो कुछ भी विभूतियाँ बतलायी गयी हैं एवं समस्त संसारके जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो भी बल, बुद्धि, तेज, गुण, प्रभाव आदि प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी भगवान्के प्रभावके एक अंशमात्रका ही प्रादुर्भाव हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्‌॥

(गीता १० । ४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है।

मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ।'

जैसे जलका बुद्बुदा समुद्रका एक अंशमात्र है, वैसे ही सम्पूर्ण गुण और प्रभावसहित सारा ब्रह्माण्ड परमात्माके किसी एक अंश--में है--इस प्रकार समझकर जो दसवें अध्यायके उपर्युक्त ८वें, ९वें और १० वें श्लोकोंके अनुसार परमात्माकी उपासना करता है, वह अनायास ही परमात्माको पा लेता है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो गयी कि भगवान्की भक्ति ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंकी अपेक्षा उत्तम, सुगम और सुलभ है—इतना ही नहीं, भक्तिसे शीघ्र ही सारे पापोंका नाश होकर भगवान्के स्वरूपका ज्ञान हो जाता है और मनुष्य इस दुस्तर संसार-समुद्रसे तरकर भगवान्का दर्शन पा लेता है एवं भगवान्को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश भी कर सकता है । भगवान्ने कहा है--

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

(गीता ११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

यों तो ज्ञानयोगके द्वारा भी पापोंका नाश होकर परमात्माका ज्ञान और परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है (गीता ४ । ३४—

३६, ३९), किंतु उससे सगुण-साकार भगवान्का साक्षात् दर्शन नहीं होता। अनन्य भक्तिसे तो परमात्माका ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति यानी परमात्मामें एकीभावसे प्रवेश होनेके अतिरिक्त उनका साक्षात् दर्शन भी सम्भव है। इसलिये भगवान्की अनन्य भक्तिका मार्ग सर्वोत्तम है।

यहाँ उस अनन्य भक्तिका स्वरूप जाननेके लिये अनन्य भक्तके लक्षण बतलाते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको केवल मेरे लिये ही करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्राप्त होता है।'

यदि कहें कि 'इस श्लोकमें जो भगवान्के लिये कर्म करना, भगवान्के परायण होना और भगवान्का भक्त होना—ये तीन बातें बतलायी गयी हैं, इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवान्की प्राप्ति होती है या एकके अनुष्ठानसे भी?' तो इसका उत्तर यह है कि इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवत्प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, किसी एकके अनुष्ठानसे भी हो सकती है। केवल भगवदर्थ कर्म करनेसे भी मनुष्यको भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त होनेकी

बात भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १० वें श्लोकमें बतलायी है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

'हे अर्जुन ! तू मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ।'

तथा केवल भगवान्‌के परायण होनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

एवं केवल भगवान्‌की भक्तिसे भी भगवत्प्राप्ति हो जाती है—

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
(गीता ७ । २३ का उत्तरार्ध)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त—चाहे जैसे ही मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गीता ७ । १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ।'

इन चारोंमें अर्थार्थी भक्तसे आर्त, आर्तसे जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ज्ञानी (निष्काम) श्रेष्ठ है । अर्थार्थी भक्तसे आर्त इसलिये श्रेष्ठ है कि वह स्त्री, पुत्र, धन आदिकी तो बात ही क्या, राज्य-भोग भी भगवान्‌से नहीं चाहता—जैसे ध्रुव[1] ने चाहा था; परंतु द्रौपदी[2]की भाँति किसी बड़े भारी सांसारिक संकटके प्राप्त होनेपर उसके निवारणके लिये याचना करता है । पर जिज्ञासु तो सांसारिक भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी उस संकटकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता; वरं भक्त उद्धव[3]की भाँति संसार-सागरसे आत्माका उद्धार करनेके लिये परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी ही इच्छा करता है । इसलिये आर्तसे भी जिज्ञासु श्रेष्ठ है; किंतु भक्त प्रह्ला[4]की भाँति निष्काम ज्ञानी भक्त तो अपनी मुक्तिके लिये भी

---

१. भक्त ध्रुवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्धके ८ वें, ९वें अध्यायोंमें देख सकते हैं ।

२. द्रौपदीका यह प्रसंग महाभारत, सभापर्वके ६८ वें अध्यायमें पढ़ सकते हैं ।

३. भक्त उद्धवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धके ७ वेंसे २९वें अध्यायतक देख सकते हैं ।

४. भक्त प्रह्लादका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्धके ४ थेसे १० वें अध्यायतक देख सकते हैं ।

याचना नहीं करता । इसलिये भगवान्‌ने निष्काम ज्ञानी भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है।

इन चारोंमें ज्ञानी भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय है; क्योंकि ज्ञानीको भगवान् अतिशय प्रिय हैं । सातवें अध्यायके १७ वें श्लोकमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तियुक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, अतः वह ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है कि जो मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ (गीता ४ । ११) ।

इतना ही नहीं, जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसको भगवान् अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायके २९ वें श्लोकमें कहा है कि 'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

यदि पूछा जाय कि 'क्या ऐसे ज्ञानी निष्काम भक्तके अतिरिक्त दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं और क्या उनका उद्धार नहीं होता ?' तो ऐसी बात नहीं है । ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं और सभीका उद्धार होता है; किंतु ज्ञानी निष्काम भक्त सर्वोत्तम है । ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
(गीता ७। १८)

'ये सभी उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मद्गत-मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

उदारका अर्थ है श्रेष्ठ। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि 'वे भक्त मुझे पहले भजते हैं, तब फिर उसके बाद मैं उनको भजता हूँ तथा वे अपने अमूल्य समयको मुझपर श्रद्धा-विश्वास करके न्योछावर कर देते हैं, यह उनकी उदारता है, इसलिये वे श्रेष्ठ हैं, और मेरी भक्ति सकाम, निष्काम या अन्य किसी भी भावसे क्यों न की जाय, मेरे भक्तका उद्धार हो ही जाता है (गीता ७। २३); किंतु प्रेम और निष्कामभावकी उनमें कमी होनेके कारण उनको मेरी प्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है। मेरी उपासनाकी तो बात ही क्या है, जो दूसरे देवताओंकी उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं, किंतु वे मुझको तत्त्वसे न जाननेके कारण इस लोक या स्वर्ग आदि परलोकरूप नाशवान् फलको ही पाते हैं।'

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।
(गीता ७। २३का पूर्वार्ध)

'क्योंकि उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है।'

सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें जिस समग्र रूपको जाननेकी बात कही गयी है, उसका भगवान्‌ने यही अभिप्राय बतलाया कि जो कुछ है, वह मुझसे अलग नहीं है (गीता ७। ७) और सब

कुछ मेरा ही स्वरूप है (गीता ७ । १९)। एवं इस तत्त्वको जाननेवाला निष्पाप तथा राग-द्वेषजनित मोहसे मुक्त भगवद्भक्त भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌के समग्र रूपको जान जाता है (गीता ७ । २८–३०)।

ऐसे ज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मा भक्तकी जो स्थिति है, उसकी भगवान्‌ने बड़ी प्रशंसा की है (गीता १२ । १३ से १९)। भगवान्‌ने उसको अपना प्रिय भक्त कहा है, किंतु जो साधक उस ज्ञानी भक्तके लक्षणोंको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक साधन करता है, उसको तो भगवान्‌ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है; क्योंकि उसने भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास करके अपने जीवनको भगवान्‌के लिये ही न्योछावर कर दिया है। भगवान् कहते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥
(गीता १२ । २०)

'जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त तो मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

जब केवल मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है (८ । ७, १२ । ८), तब फिर जो सर्वस्व भगवान्‌के समर्पण करके सब प्रकारसे भगवान्‌को भजता है, उसके उद्धारमें तो कहना ही क्या है।

गीतोक्त अनन्य प्रेमका साधन और उसका फल

एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर, जरा भी स्वार्थ, अभिमान और कामना न रखकर एकमात्र भगवान्‌में ही अतिशय श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना और भगवान्‌से भिन्न किसी भी वस्तुमें किंचिन्मात्र भी प्रेम न करना—यह अनन्य प्रेम है। अनन्य प्रेमके साधनका स्वरूप और फल गीतामें इस प्रकार बताया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान आदिद्वारा मुझमें निरन्तर रमण करने और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने ९ वें श्लोकमें अनन्य प्रेमी भक्तके लक्षणोंके रूपमें छः साधन बतलाये हैं और १० वें श्लोकमें उनका फल बतलाया है। अब इनके विषयमें कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

'मच्चित्ताः'

जैसे संसारी मनुष्य रात-दिन संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं, वैसे ही भगवान्के प्रेमी भक्त भगवान्में ही रचे-पचे रहते हैं तथा जैसे संसारी मनुष्य हर समय मनसे संसारका ही चिन्तन करते रहते हैं, वैसे ही भगवद्भक्त हर समय मनसे भगवान्का ही चिन्तन करते रहते हैं। भगवान्से मिलनेके इच्छुक साधक भक्त मनसे भगवान्का आह्वान करके भगवान्का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, पूजा, आदर, सत्कार और विनोद करते रहते हैं। सर्वप्रथम भक्त भगवान् श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके चरणोंसे लेकर मस्तकतक वस्त्र-आभूषण-आयुध आदिके सहित उनके स्वरूपका श्रद्धा-प्रेमसे चिन्तन करता है। फिर मनसे ही अपने सम्मुख प्रकट मानसिक भगवान्के स्वरूपका मानसिक सामग्री और अपने मानसिक शरीरके द्वारा षोडश उपचारोंसे पूजन करता है। तत्पश्चात् आत्मीयतापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करता है तथा मनसे ही उनके साथ आमोद-प्रमोद और विनोद करता हुआ आश्रम, घर या वनमें विचरण करता रहता है। जहाँ-जहाँ भगवान्के चरण टिकते हैं, उस-उस भूमिमें भगवान्का प्रभाव प्रवेश कर जाता है, इसलिये उस भूमिकी रजको परम पवित्र और कल्याणकारिणी हो गयी समझता है। जिस बिछौने, गद्दे या सतरंजीपर बैठकर भगवान्के साथ भक्त मनसे वार्तालाप करता है, उस सतरंजी और गद्दे आदिमें मानो भगवान्के दिव्य गुण-प्रभावके परमाणु प्रवेश कर गये, इसलिये उस सतरंजी-गद्देको छूनेसे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं और हृदय प्रफुल्लित होता रहता है। जैसे दो सखा आपसमें प्रेमकी बातचीत

करते हैं, वैसे ही वह भगवान्‌के साथ दिव्य प्रेमकी मनसे ही बातचीत करता रहता है। प्रेमभरे नेत्रोंसे वे एक-दूसरेको देखते हैं। भगवान्‌के हृदयमें और नेत्रोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, प्रेम आदि अनन्त दिव्य गुण भरे पड़े हैं। भगवान् मुझपर अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात करते हैं, जिससे वे गुण मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और रोम-रोममें ऐसे प्रवेश कर रहे हैं कि उनमें समता, शान्ति, ज्ञान, आनन्द और प्रसन्नताकी सीमा ही नहीं रही; मानो मैं गुणोंके सागरमें डूबा हुआ हूँ——ऐसा उसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भगवान्‌के नेत्रोंकी दृष्टि जहाँ-जहाँ पड़ती है, वे सब वस्तुएँ दिव्य, अलौकिक, कल्याणदायक हो जाती हैं——ऐसा अनुभव होने लगता है। फिर मानो भगवान् और भक्त दोनों एक साथ भोजन करने बैठे हैं और एक-दूसरेको परोस रहे हैं। भगवान्‌के स्पर्शसे वह भोजन दिव्य अलौकिक रसमय परम मधुर हो गया है। वह भोजन करनेसे सारे शरीरमें इतनी प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति और तृप्ति हो रही है कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान्‌के अङ्गसे जिस वस्तुका स्पर्श हो जाता है, वह भी दिव्य रसमय, आनन्दमय, शान्तिमय, प्रेममय और कल्याणमय हो जाती है। भगवान् जिसको अपने मनसे स्मरण कर लेते हैं, वह वस्तु भी परम शान्ति, परमानन्द और परम कल्याणदायिनी हो जाती है! भगवान्‌में दिव्य सुगन्ध आती है, वह नासिकाके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल और मधुर है, वह कानोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चरण-स्पर्श हाथोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का दर्शन नेत्रोंके लिये

अमृतके समान है । भगवान्‌का चिन्तन मनके लिये अमृतके समान है । भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका जो तात्त्विक ज्ञान है, वह बुद्धिके लिये अमृतके समान है । इस प्रकार उनका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, आमोद, प्रमोद आदि सभी रसमय, आनन्दमय, प्रेममय और अमृतमय है । भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—सभी परम मधुर, दिव्य, अलौकिक और रसमय हैं । यों चिन्तन करते हुए वे प्रेमी भक्त अपने चित्तको सर्वथा भगवन्मय बना देते हैं, भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें उनके मनकी प्रीति और वृत्ति नहीं रहती; अतः वे भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूल सकते । एक भगवान्‌में ही उनका मन तन्मय होकर निरन्तर लगा रहता है ।

'मद्गतप्राणाः'

'वे प्रेमी भक्त उपर्युक्त भगवान्‌के श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शनके लिये उनको अपना जीवन, धन, प्राण—सर्वस्व समझकर अपने जीवनको उन्हींके अर्पण कर देते हैं । फिर उनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होने लगती हैं । उनका जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है । उन्हें क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है । उनको भगवद्दर्शनके बिना चैन नहीं पड़ती, न रातको नींद आती है और न दिनमें भूख लगती है । भगवान्‌के सिवा कोई भी पदार्थ उन्हें अच्छा नहीं लगता । भगवान्‌के वियोगमें वे जलके बिना मछलीकी भाँति तड़फते रहते हैं । जैसे मछलीके प्राण जलगत हैं,

उसी प्रकार उनके प्राण भगवद्गत हो जाते हैं। वे गोपियोंकी तरह विरहाकुल, पागल और उन्मत्त-से हुए भगवान्‌को ही खोजते-फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन-प्राण—सबको भगवान्‌के न्यौछावर कर देते हैं, उनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो जाता है। उन्हें खाने-पीने, बोलने, चलने आदिकी भी सुध-बुध नहीं रहती। यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, पशु आदि किसीकी भी परवा नहीं रहती। वे सबसे निर्भय होकर विचरते हैं। शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाका भी उन्हें ज्ञान नहीं रहता। मन, तन, धन, जीवन, प्राण, सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देनेके कारण भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें भी उनकी प्रीति और ममता नहीं रहती। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तके सम्बन्धमें ही श्रीसुन्दरदासजीने यह कहा है—

न लाज तीन लोककी न वेदको कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी न देव यक्ष तें डरै॥
सुनै न कान औरकी द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात भक्ति प्रेम लच्छना॥

'बोधयन्तः परस्परम्'

जैसे गोपियाँ भगवान्‌के प्रेमके तत्त्व-रहस्यको परस्पर एक-दूसरी-को कहती और समझाती रहती थीं, वैसे ही वे भगवत्प्रेममें मग्न हुए प्रेमी भक्त अपने प्रेमी मित्रोंके साथ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, प्रेम, गुण, प्रभावकी चर्चा करते हुए एक-दूसरेको उनका तत्त्व-रहस्य समझाते रहते हैं एवं अपने परम प्रिय भगवान्‌की लीला,

चरित्र, महिमा तथा भगवान्‌के माधुर्य, रूप-लावण्य, वस्त्र, आभूषण, नाम और गुण-प्रभाव आदिके सम्बन्धमें परस्पर वार्तालाप करते-करते उस विशुद्ध परम प्रेम और आनन्दमें तन्मय और मुग्ध हो जाते हैं।

'कथयन्तश्च माम्'

इसी प्रकार वे भक्त भगवान्‌के प्रेमी भक्तों तथा अपने प्रिय सखाओंके सम्मुख भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और गुणोंका गान करते रहते हैं एवं भगवान्‌के साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण स्वरूपके तत्त्व-रहस्यका, भगवान्‌के चरित्र और दिव्य लीलाओंका, भगवान्‌के नामकी महिमाका, भगवान्‌के नित्य परम धामके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यका तथा भगवान्‌के दिव्य अलौकिक अनन्त नानाविध गुणोंके तत्त्व-रहस्यका पुस्तक, व्याख्यान और पत्र-व्यवहार आदिके द्वारा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक वर्णन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे भगवत्प्रेमके आनन्दमें विह्वल और मग्न हो जाते हैं। फिर भी, इन सबका वर्णन करनेसे वे कभी अघाते ही नहीं।

'नित्यं तुष्यन्ति च'

वे भक्त ऊपर बतायी हुई बातोंसे ही हर समय संतुष्ट रहते हैं। इनसे बढ़कर किसीको भी आनन्ददायक नहीं समझते। वे भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर तृप्त और संतुष्ट रहते हैं, परम शान्ति और परमानन्दके दिव्य रसमें हर समय मग्न रहते हैं। वे आमोद-प्रमोदपूर्वक हर समय इतने प्रसन्नचित्त रहते हैं कि भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी उस आनन्दकी स्थितिसे विचलित नहीं होते, वरं अपने इष्टदेवके नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव-

को स्मरण करते हुए परम आनन्दमें ही मस्त रहते हैं। अपने परम प्यारे इष्टदेव परमात्माकी प्रेममयी लीला और चरित्रको मनसे ही देख-देखकर सदा परम संतुष्ट रहते हैं तथा भगवान्‌के परम मधुर स्वभाव, महिमा और रूप-माधुरीके तत्त्व-रहस्यको समझकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं।

'रमन्ति च'

वे परम प्रेमी भक्त भगवान्‌के साथ ही अलौकिक दिव्य आमोद-प्रमोदपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं। वे निरन्तर एक भगवान्‌में ही सर्वथा रमण करते रहते हैं। अपने परम प्यारे भगवान्‌में दिव्य अलौकिक सुगन्ध आती रहती है, उसका नासिकासे आस्वाद लेना नासिकाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के प्रसादको पाकर जिह्वाके द्वारा उनका आस्वाद लेना जिह्वाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नेत्रोंसे नेत्र मिलाकर, उनके नेत्रोंमें जो एक अलौकिक दिव्य प्रेम, रस और ज्ञानयुक्त ज्योति है, उसको देखते रहना नेत्रोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के चरणोंका हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नूपुर, वंशी आदिकी ध्वनिको तथा उनकी प्रेमभरी कोमल मधुर वाणीको सुन-सुनकर आस्वाद लेना कानोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रूप, लीला आदिका चिन्तन करना मनसे भगवान्‌में रमण करना है तथा भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर मुग्ध होते रहना बुद्धिके द्वारा उनमें रमण करना है। इस प्रकार भगवान्‌का आघ्राण, प्रसाद-भोग, दर्शन, स्पर्श, भाषण, श्रवण, चिन्तन, मनन आदि सभी परम मधुर, रसमय, प्रेममय, अमृतमय,

आनन्दमय हैं—ऐसा समझकर वे प्रेमी भक्त अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर उनसे उनके दर्शन-भाषण आदि करनेमें ही अत्यन्त अनुपम रसास्वाद लेते हुए भगवान्‌में ही नित्य-निरन्तर रमण करते रहते हैं। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध दिव्य प्रेम था। उनके मन, प्राण और समस्त चेष्टाएँ एकमात्र अपने प्राणधन प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्णके ही अर्पित थीं और वे भगवान्‌के गुणोंका गान करती हुई उनके प्रेममें ही सदा मग्न रहती थीं। भागवतकार बतलाते हैं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३० । ४४)

'गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे श्रीकृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णपरक चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कहें, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था। वे केवल श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही।'

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझकर श्रद्धा-विश्वास और अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर मनसे चिन्तन, दर्शन, भाषण, चरण-स्पर्श करना ही भगवान्‌को प्रीतिपूर्वक विशुद्ध, निष्कामभावसे भजना है। इस प्रकार भगवान्‌को भजनेवाले भक्त मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, ऐश-आराम, भोग

और त्रिलोकीके ऐश्वर्यको तथा मुक्तिको भी नहीं चाहते। वे केवल विशुद्ध प्रेमके लिये ही भगवान्‌को अनन्य भावसे भजते हैं।

> न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
> न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
> मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
> (श्रीमद्भा॰ ११।१४।१४)

'जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है, वह मेरे सिवा न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका। उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी होना चाहता है तथा वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता।'

ऐसा अनन्य विशुद्ध प्रेम करनेवाले भक्तको भगवान् वह बुद्धि-योगरूप विज्ञानसहित ज्ञान दे देते हैं, जिससे भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका तत्त्व-रहस्य यथावत् समझमें आ जाता है और उसके फलस्वरूप उसे परम प्रेमास्पद भगवान्‌को प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌की प्राप्ति होनेके पश्चात् उसे केवल भगवान्‌का ही अनुभव रहता है। वह अपने-आपको भी भूल जाता है। होश आनेके बाद उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के ही मन और संकेतके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति स्वाभाविक ही होती रहती हैं। फिर भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये ही होती हैं। उनमें परस्पर नित्य नया प्रेम सदा-सर्वदा समानभावसे जाग्रत् रहता है। परस्पर दोनोंकी चेष्टा एक-दूसरेको आह्लादित करनेके लिये ही होती है,

जो कि एक दूसरेके लिये लीलारूप है। प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनका नामरूप अलग-अलग है, परंतु वस्तुतः तीनों एक ही हैं। जैसे सुवर्णके आभूषणोंके नाम-रूप अलग-अलग होते हैं, किंतु वस्तुतः वे स्वर्ण ही हैं। इसी प्रकार परम दिव्य चिन्मय प्रेमस्वरूप परमात्मा ही प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम नामसे व्यवहृत हुए हैं। भक्तकी दृष्टिमें तो भक्त प्रेमी, भगवान् प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है तथा भगवान्‌की दृष्टिमें भगवान् प्रेमी, भक्त प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है, अतः भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तके लिये लीला है और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये लीला है। एक-दूसरेकी चेष्टा एक-दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही होती है।

यहाँ एक-दूसरेके साथ लज्जा, मान, भय, आदर-सत्कार किंचिन्मात्र भी नहीं रहते। वस्तुतः तो एक ही हैं, अतः कौन किसका किससे किसलिये लज्जा, मान, भय, आदर-सत्कार करे। दास्य और वात्सल्यभावमें तो आदर-सत्कार और भय रहते हैं, कान्ताभावमें भी आदर-सत्कार रहते हैं तथा सख्यमें भी लज्जा रहती है, किंतु यहाँ तो परस्पर लज्जा, भय, मान, आदर-सत्कारका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि भगवान्‌की प्राप्ति होनेके साथ ही दास्य, सख्य, कान्ताभाव, वात्सल्य, शान्त आदि सारे भावोंका उस भक्तमें समावेश हो जाता है तथा वह केवल विशुद्ध चिन्मय परम प्रेमस्वरूप भगवान्‌को प्राप्त हो जानेके कारण इन भावोंसे ऊपर उठ जाता है। यह परम विशुद्ध दिव्य अलौकिक प्रेमकी प्राप्ति रहस्यमय है। इसका कोई वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकता।

अन्तकालमें हुए परमात्मचिन्तनका महत्त्व

शास्त्रोंमें भगवान्‌के निर्गुण और सगुण—दो स्वरूप बतलाये गये हैं। इन दोनोंमें जो निर्गुण है, वह तो निराकार है ही। सगुणके दो भेद हैं—(१) सगुण निराकार, (२) सगुण साकार। भगवान्‌के इन तीनों स्वरूपोंमेंसे किसी एकका भी चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह छोड़कर जाता है, वह सदाके लिये इस संसारसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। उस परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिको ही अव्यक्त, अक्षर, परमगति, परमधाम आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है—

> अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
> यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
>
> (गीता ८। २१)

'जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्त-भावको परमगति कहते हैं; तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।'

भगवान् कहते हैं कि जो मेरा स्मरण करता हुआ मरता है, वह मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

> अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
> यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
>
> (गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात्स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

यदि कोई मनुष्य ऐसा कहे कि क्या भगवान् भी पक्षपाती हैं, जो उन्हें स्मरण करनेवालेका तो उद्धार कर देते हैं और स्मरण न करनेवालेका उद्धार नहीं करते तो वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। भगवान् तो समदर्शी हैं, पक्षपाती नहीं, उनकी तो सबपर समान-रूपसे कृपा है। परंतु यह एक साधारण नियम है कि मरणकालमें मनुष्य जिस-जिस देवता, मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष एवं पहाड़ आदिका स्मरण करके देह-त्याग करता है, वह उसी रूपको प्राप्त हो जाता है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

भगवान् इस नियमको बतलाकर कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर

और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जैसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सारथिरूपमें रथपर विराजमान रहते थे, वैसे ही भगवान्‌को सर्वत्र अपने साथ समझनेसे हर समय उन सगुण-साकार परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन होना सहज ही है और मनुष्य निरन्तर जिस वस्तुका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी उसी वस्तुकी स्वाभाविक स्मृति हो जाती है। अतः भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य शरीर छोड़ता है, वह भगवान्‌के सगुण स्वरूपको प्राप्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है।

यह बात बतलाकर अब सगुण निराकारके चिन्तनसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, यह बतलाया जाता है। सर्वव्यापी सगुण निराकाररूप परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य मरता है, वह भी उस चिन्तनके प्रभावसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(गीता ८।८–१०)

'हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है। जो पुरुष सर्वज्ञ, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म, सबको धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भ्रुकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

वह परम दिव्य पुरुष परमात्मा अव्यक्त, निराकार, सर्वव्यापी है और यह सारा संसार उस परमात्माके ही एक अंशमें स्थित है। जैसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन चारों महाभूतोंका समूह एक अव्यक्त, निराकार आकाशके ही अन्तर्गत है और आकाश इन चारोंमें व्यापक है, उसी तरह परमात्मा सम्पूर्ण चराचर भूत-प्राणियोंके बाहर-भीतर व्यापक है और सारे भूत-प्राणियोंका समूह उस परमात्माके ही किसी एक अंशमें है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(गीता ८।२२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परमपुरुष परमात्मा तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

जैसे मनुष्य सगुण साकार और सगुण निराकारके चिन्तनसे परमात्माको प्राप्त होता है, उसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य शरीरका त्याग करता है, वह भी परमगतिस्वरूप निर्गुण सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस परम अक्षरस्वरूप परमात्माकी महिमा बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥
(गीता ८। ११)

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा।'

इस निर्गुण निराकार परमात्माको ही परम अक्षर ब्रह्मके नामसे कहा गया है—

'अक्षरं ब्रह्म परमम्' (गीता ८। ३का प्रथम पाद)

इस अक्षर ब्रह्मका ही नाम 'ओम्' है। इसलिये अन्तकालमें

ओंकारका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मुझ सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागकर जाता है, वह परमगतिको अर्थात् परमात्माको प्राप्त होता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
(गीता ८ । १३)

इस प्रकार भगवान्के उपर्युक्त तीनों स्वरूपोंमेंसे किसी एकका भी स्मरण करता हुआ मनुष्य यहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है अथवा अर्चिमार्गसे जाकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
(गीता ८ । २४)

'जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।'

यहाँ 'ज्योतिः' पद 'अग्नि'का विशेषण है और 'अग्निः' पद अग्नि-अभिमानी देवताका वाचक है । इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है । पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायणमार्गसे जानेवाले अधिकारीको दिनके अभिमानी देवतासे

सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायण मार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसको रात्रिभर यह अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

इसी तरह दिनके अभिमानी देवताका अधिकार पृथ्वीलोककी सीमा अर्थात् जहाँतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक है और उत्तरायणमार्गसे जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है।

शुक्लपक्षके अभिमानी देवताका अधिकार भूलोककी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात होती है, वहाँतक है, और उत्तरायण मार्गसे जाने-वाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है।

जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवता-का वाचक 'षण्मासा उत्तरायणम्' है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गसे जानेवाले परम-धामके अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित (छान्दोग्य उ० ४। १५। ५; ५। १०। १, २; बृहदारण्यक उ० ६। २। १५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा

देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत्-अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्के परमधामसे भगवान्के पार्षद (अमानव पुरुष) आकर उसे परमधाममें ले जाते हैं, तब उसका भगवान्से मिलन हो जाता है।

उस ब्रह्मरूप परमपदको प्राप्त होकर वह पुनः इस संसारके जन्म-मरणरूप चक्रमें नहीं आता। ब्रह्माके लोकतक गया हुआ प्राणी पुनः इस संसारमें लौटकर कर्मानुसार योनिमें जन्म लेता है, क्योंकि ब्रह्मा और उसका लोक—दोनों ही अवधिवाले हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
(गीता ८। १६का पूर्वार्ध)

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥
(गीता ८। १७)

'ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं।'

चारों युगोंके समयको मिलानेपर एक दिव्य युग होता है। कलियुग ४,३२,००० वर्ष, द्वापर ८,६४,००० वर्ष, त्रेता १२,९६,००० वर्ष एवं सत्ययुग १७,२८,००० वर्ष—इस

तरह कुल ४३, २०,००० वर्षोंका एक दिव्ययुग होता है। देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे ३६० गुना अधिक माना जाता है, अतः एक हजार दिव्ययुगोंका अर्थात् हमारे ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात्रि होती है। इस तरहके १०० वर्ष बीत जानेपर अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है। इस विषयका विशद वर्णन मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें ६४वेंसे ७३वें श्लोकतक है।

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

(गीता ८ । १८)

इस प्रकार अवधिवाले होनेसे ब्रह्मा और ब्रह्माका लोक भी अवधि पूर्ण होनेपर विनाशको प्राप्त हो जाते हैं। इन सबका विनाश होनेपर भी सच्चिदानन्दघन परमात्माका नाश नहीं होता—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

(गीता ८ । २०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण

जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष परमात्मा सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ।'

निरन्तर अभ्यासके प्रभावसे मनुष्यको इस जीवनकालमें ही परम दिव्य पुरुष परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि निरन्तर स्मरण करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति सुगम है । भगवान् कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमका स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

इस प्रकार अभ्यास करनेवालेको जब इस जन्ममें ही भगवान् मिल सकते हैं, तब अन्यकालमें मिल जाते हैं—इसमें तो कहना ही क्या है । परमात्माको हर समय याद रखना भी कोई कठिन काम नहीं है ।

एवं जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह फिर दुःखरूप इस संसारमें लौटकर कभी नहीं आता—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
(गीता ८ । १५)

'परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते ।'

वह पुरुष सम्पूर्ण संसारका उल्लङ्घन करके परमपदरूप परमात्माको सदाके लिये प्राप्त हो जाता है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

'योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा गया है, उस सबको निःसंदेह उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त होता है।'

गीताके इस आठवें अध्यायमें मनुष्यके मरणकालमें हुए भगवच्चिन्तनके विशेष महत्त्वका वर्णन है। अतः मृत्युके समय पुरुषको अर्थसहित यह अध्याय अवश्य सुनाना चाहिये। यदि सारा-का-सारा अध्याय न सुनाया जा सके तो ऊपर जिन श्लोकोंका वर्णन आया है, कम-से-कम ये खास-खास श्लोक तो अवश्य ही अर्थसहित सुना देने चाहिये; क्योंकि इन श्लोकोंमेंसे मनुष्य एक श्लोकके भी अर्थ और भावको समझकर धारण कर लेता है तो सहजमें ही उसका कल्याण हो सकता है। फिर जो सदा-सर्वदा हर समय भगवान्‌के सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार—किसी भी स्वरूपको याद रखता है, उसके लिये तो अन्तकालमें परमात्माकी स्मृति हो जानी बहुत ही सहज है।



भगवदर्थ कर्म और भगवान्‌की दयाका रहस्य

समस्त प्राणी, पदार्थ, क्रिया और भावका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़कर साधन करनेसे साधकके हृदयमें उत्साह, समता, प्रसन्नता, शान्ति और भगवान्‌की स्मृति हर समय रह सकती है। इससे भगवान्‌में परम श्रद्धा-प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति सहज ही हो सकती है। 'जो कुछ भी है, सब भगवान्‌का है और मैं भी भगवान्‌का हूँ, भगवान् सबमें व्यापक हैं (गीता १८। ४६) इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है, मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार भगवान्‌के लिये ही कर रहा हूँ, भगवान् ही मेरे परम प्यारे और परम हितैषी हैं'—इस प्रकारके भावसे अपने घर या दूकानके कामको अथवा किसी भी धार्मिक संस्थाके कामको अपने प्यारे भगवान्‌का ही काम समझकर और स्वयं भगवान्‌का ही होकर

काम करनेसे साधकको कभी उकताहट नहीं आती, प्रत्युत चित्तमें धैर्य, उत्साह, प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यदि नहीं बढ़ती है तो गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि इसमें क्या कारण है। खोज करनेपर पता लगेगा कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही इसमें कारण है। इस कमीकी निवृत्तिके लिये साधकको भगवान्‌के शरण होकर उनसे करुणापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये और भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझना चाहिये।

गीता-प्रचारका काम तो प्रत्यक्ष भगवान्‌का ही काम है; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। जो मनुष्य श्रीमद्भगवद्गीताके अर्थ और भावको समझकर गीताका प्रचार करता है, तो उससे उसका उद्धार हो जाता है और भगवान् उसपर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। इसके लिये गीता अ० १८ श्लोक ६८-६९ को देखना चाहिये—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

जो मनुष्य इन दोनों श्लोकोंके अर्थ और भावको भलीभाँति

समझ जाता है, उसका तो सारा जीवन गीताप्रचारमें ही व्यतीत होना चाहिये । वर्तमानमें जो कुछ भी गीताका प्रचार हमारे देखने-सुननेमें आता है, उसका भी प्रधान कारण इन दो श्लोकोंके अर्थ और भावको जाननेका प्रभाव ही है ।

अतः गीताप्रचारका कार्य भगवान्‌का ही कार्य है और यह भगवान्‌की विशेष कृपासे ही प्राप्त होता है । रुपये खर्च करनेसे यह नहीं मिलता ।

भगवान्‌का काम करना—उनकी आज्ञाका पालन करना भगवान्‌की ही सेवा है । वास्तवमें इस कामको भगवान्‌की सेवा समझकर करनेसे अवश्य ही प्रसन्नता तथा शान्ति प्राप्त हो सकती है । यदि नहीं मिलती है तो उसने इस कामको भगवान्‌की सेवा समझा ही नहीं । यदि कोई मनुष्य महात्माको महात्मा जानकर उनके कार्यको, उनकी आज्ञाके पालनको उनकी सेवा समझकर करता है तो उसके हृदयमें भी इतना आनन्द होता है कि वह उसमें समाता ही नहीं, तो फिर भगवान्‌की सेवासे परम प्रसन्नता और शान्ति प्राप्त हो इसमें तो कहना ही क्या है !

गीताप्रचारका कार्य करनेवालोंके चित्तमें यदि भगवान्‌की स्मृति, प्रसन्नता, उत्साह, प्रेम और शान्ति नहीं रहती है तो उन्हें इसके कारणकी खोज करनी चाहिये, एवं जो दोष समझमें आये, उसको भगवान्‌की दयाका आश्रय लेकर हटाना चाहिये । भगवान्‌की दया सबपर अपार है, उसको पूर्णतया न समझनेके कारण ही हम-लोग प्रसन्नता और शान्तिकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं । हमलोगोंपर

भगवान्‌की जो अपार पूर्ण दया है, उसके शतांशको भी हम नहीं समझते हैं। किंतु न समझमें आनेपर भी हमलोगोंको अपने ऊपर भगवान्‌की अपार दया मानते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे वह आगे जाकर समझमें आ सकती है।

दयाके इस तत्त्वको भलीभाँति समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—एक क्षत्रिय बालक राज्यकी सहायता और व्यवस्थासे एक महाविद्यालयमें अध्ययन करता था। उसके माता-पिता उसे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि 'इस देशके राजा उच्चकोटिके ज्ञानी, योगी महापुरुष हैं, वे हेतुरहित प्रेमी और दयालु हैं, उनकी हमलोगोंपर बड़ी भारी दया है। हमलोगोंका देहान्त हो जाय तो तुम चिन्ता न करना, क्योंकि महाराज साहबकी दया तुमपर हमलोगोंकी दयाकी अपेक्षा अतिशय अधिक है।' माता-पिताके इस उपदेशके अनुसार वह ऐसा ही मानता था। समय आनेपर उसके माता-पिता चल बसे; परंतु वह बालक दुःखित नहीं हुआ। विद्यालयके सहपाठी बालकोंने उससे पूछा—'तुम्हारे माता-पिता मर गये, फिर भी तुम्हारे चेहरेपर खेद नहीं, क्या बात है। अब तुम्हारा पालन-पोषण कौन करेगा? क्षत्रिय बालकने कहा—'मुझे शोक क्यों होता? क्योंकि मेरे माता-पितासे भी बढ़कर मुझपर दया और प्रेम करनेवाले हमारे परम हितैषी महाराज साहब हैं। महाराज साहब उच्चकोटिके भक्त एवं ज्ञानी महापुरुष हैं। मैं तो उन्हींपर निर्भर हूँ।' बालककी यह बात सुनकर वहाँके प्रधानाध्यापकको बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखो, इस बालकके हृदयमें महाराज साहबके प्रति कितनी श्रद्धा-भक्ति है। वे प्रधाना-

ध्यापक राज्यकी कौंसिलके सदस्य थे। एक दिन जब कौंसिलकी बैठक हुई, तब वे भी उसमें उपस्थित थे। उस दिन महाराज साहबने कहा–'अपने देशमें कोई अनाथ बालक हो तो बतलायें, उसका प्रबन्ध राज्यकी ओरसे सुचारुरूपसे हो जाना उचित है।' कौंसिलके कई सदस्योंने उसी क्षत्रिय-बालकका नाम बतलाया। इसपर राजाने सबकी सम्मतिसे उस बालकके लिये खाने-पीनेका सब प्रबन्ध कर दिया और उसके कच्चे घरको पक्का बनानेका आदेश दे दिया। पढ़ाईका प्रबन्ध तो पहलेसे भी राज्यकी ओरसे था ही।

कुछ ही दिनों बाद जब राजाकी आज्ञासे राजकर्मचारी उसके कच्चे घरको पक्का बनानेके लिये तोड़ रहे थे, तब उस क्षत्रिय-बालकके एक सहपाठीने दौड़कर उसे सूचना दी कि तुम्हारे घरको राजकर्मचारी तोड़कर बर्बाद कर रहे हैं। यह सुनकर वह बालक बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—'अहा! महाराज साहबकी मुझपर बड़ी ही दया है। सम्भव है, वे पुराना तुड़वाकर नया पक्का घर बनवायेंगे!' उसकी यह बात सुनकर प्रधानाध्यापक आश्चर्यचकित हो गये और सोचने लगे—'देखो, इस बालकको कितना प्रबल विश्वास है! महाराजपर कितनी अटूट श्रद्धा है।'

पुनः जब दूसरी बार कौंसिलकी बैठकमें प्रधानाध्यापक सम्मिलित हुए, तब राजाने यह प्रस्ताव रक्खा—'मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरे संतान नहीं है। अतः युवराजपद किसको दूँ? इसके योग्य कौन है?' इसपर प्रधानाध्यापकने बतलाया—'वह क्षत्रिय-बालक

गुण, आचरण, विद्या और स्वभावमें सबसे बढ़कर है। वह राजभक्त है और आपपर तो उसकी अपार श्रद्धा है।' इस बातका दूसरे सदस्योंने भी प्रसन्नतापूर्वक समर्थन किया। राजाने सर्वसम्मतिसे उस क्षत्रिय बालकको ही युवराजपद दे दिया।

दूसरे दिन राजाके मन्त्री और कुछ उच्चपदाधिकारी उस क्षत्रिय बालकके घरपर गये। उन सबको आते देख उस क्षत्रिय बालकने उनका अत्यन्त आदर-सत्कार किया और कहा—'मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' पदाधिकारियोंने कहा—'महाराज साहबकी आपपर बड़ी भारी दया है।' बालक बोला—'यह मैं पहलेसे ही जानता हूँ कि महाराजकी मुझपर अपार दया है। इसी कारण आपलोगोंकी भी मुझपर बड़ी दया है।' पदाधिकारियोंने कहा—'हम तो आपके सेवक हैं, आपकी दया चाहते हैं।' बालक बोला—'आप ऐसा कहकर मुझे लज्जित न कीजिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। महाराज साहबकी मुझपर दया है—इसको मैं अच्छी तरह जानता हूँ।' पदाधिकारियोंने कहा—'आप जो जानते हैं, उससे कहीं बहुत अधिक उनकी दया है।' क्षत्रिय बालकने पूछा—'क्या महाराज साहबने मेरे विवाहका प्रबन्ध कर दिया है?' तब उन्होंने कहा—'विवाहका प्रबन्ध ही नहीं, महाराज साहबकी तो आपपर अतिशय दया है।' बालकने पुनः पूछा—'क्या महाराज साहबने मुझको दो-चार गाँवोंकी जागीरदारी दे दी है?' पदाधिकारियोंने कहा—'वह तो कुछ नहीं, उनकी आपपर जो दया है, उसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते।' इसपर बालकने निवेदन

किया—'उनकी मुझपर कैसी दया है, इसे आप ही कृपा करके बतलाइये ।' उन्होंने कहा—'आपको महाराज साहबने युवराजपद दे दिया है । इसलिये हम आपकी दया चाहते हैं ।' यह सुनकर क्षत्रिय बालक हर्षमें इतना मुग्ध हो गया कि उसे अपने-आपका भी होश नहीं रहा ।

इस दृष्टान्तको अध्यात्मविषयमें यों घटाना चाहिये कि भगवान् ही ज्ञानी महापुरुष राजा हैं । दयालु साधक ही क्षत्रिय बालक है । उपदेश देनेवाले गुरुजन ही माता-पिता हैं । सत्संगी साधकगण ही सहपाठी बालक हैं । भगवत्प्रेमी महापुरुष ही कौंसिलके सदस्य प्रधानाध्यापक हैं । राज्यकी ओरसे बालकके खान-पानका प्रबन्ध कराये जानेको लोकदृष्टिसे अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्ति और घर तुड़वाये जानेको लोकदृष्टिसे प्रतिकूल परिस्थितिकी प्राप्ति समझना चाहिये तथा इन दोनोंमें बालकके द्वारा राजाका मङ्गलविधान मानकर प्रसन्न होनेको प्रत्येक घटनामें भगवान्का मङ्गलमय विधान मानकर प्रसन्न होना समझना चाहिये । बालकका राजाको सुहृद् मानकर उनपर निर्भरता, श्रद्धा और विश्वास करना ही भगवत्-शरणागतिका साधन समझना चाहिये ।

इस दृष्टान्तसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमलोग अपने ऊपर भगवान्की जितनी दया मानते हैं, भगवान्की दया उससे कहीं बहुत अधिक है । भगवान्की हमपर इतनी दया है कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते । यदि हम उस दयाको जान जायँ तो क्षत्रिय बालककी भाँति हमें इतना आनन्द और प्रसन्नता हो कि उसकी सीमा ही न रहे; फिर हमें अपने-आपका भी ज्ञान न रहे ।

अतः हमें स्वेच्छा, अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का दयापूर्ण मङ्गलमय विधान समझकर और अपने द्वारा होनेवाली क्रियाओंको भगवान्‌का काम तथा भगवान्‌की परम सेवा समझकर हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए आनन्दमें मग्न रहना चाहिये।

इस प्रकार भगवद्भक्तिके साधनसे साधकके चित्तमें प्रसन्नता, रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है तथा कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। किंतु मनुष्य जब साधन करते-करते सिद्धावस्थामें पहुँच जाता है—भगवान्‌को पा लेता है, तब वह आमोद, प्रमोद, हर्ष आदिसे ऊपर उठकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त कर लेता है। जैसे कड़ाहीमें घी डालकर उसमें कचौड़ी सेंकी जाती है, वह जबतक कच्ची रहती है तबतक तो उछलती है—उसमें विशेष क्रिया होती रहती है, किंतु जब वह पकने लगती है, तब उसका उछलना कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर तो वह शान्त और स्थिर हो जाती है। इसी प्रकार साधन करते समय साधकमें जबतक कचाई रहती है, तबतक वह साधन-विषयक आमोद-प्रमोदमें उछलता रहता है एवं उसके रोमाञ्च, अश्रुपात और कण्ठावरोध होता रहता है; किंतु जब साधन पकने लगता है, तब हर्षादि विकारोंका उफान कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर वह आमोद, प्रमोद, हर्ष आदि विकारोंसे रहित परम शान्त हो जाता है। फिर वह परमात्मामें अचल और स्थिर होकर परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

निरन्तर भगवच्चिन्तनकी महिमा

भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण किसी भी स्वरूपके निरन्तर स्मरणके समान कोई भी साधन नहीं है। यह साधन बहुत ही सुगम है। इस साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। यदि इस मनुष्य-जन्ममें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो बड़ी भारी हानि है, महान् भयकी बात है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-जीवनमें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना, तब बड़ी भारी हानि है।'

क्योंकि मनुष्य भगवान्‌के सिवा किसी भी प्राणी या पदार्थका चिन्तन करता हुआ मरता है तो उसकी दुर्गति होती है। मरनेके समय जिस मनुष्य, पितर, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उसीको प्राप्त होता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८।६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

हमें यह पता नहीं कि हमारी मृत्यु कब होगी। यदि अचानक मृत्यु हो गयी और मरणकालमें भगवान्‌की स्मृति नहीं रही तो बहुत ही खतरेकी बात है। इसलिये हमलोगोंको हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही सारे काम करने चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि हम हर समय भगवान्‌का स्मरण करते रहेंगे तो हम अवश्य ही भगवान्‌को प्राप्त हो जायँगे । अतएव एक क्षण भी भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये ।

शरीर और इन्द्रियोंसे आप जो कुछ कर रहे हैं, वही करते रहिये, पर केवल मनसे भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी चिन्तन न कीजिये। यों तो मनुष्य स्वाभाविक ही दो काम बराबर करता रहता है, जैसे शौच-स्नान, खान-पान आदिकी क्रिया इन्द्रियोंसे होती रहती है और मन दूसरा ही व्यर्थ चिन्तन करता रहता है, किंतु हमारी प्रार्थना यह है कि आप जैसे शौच-स्नानादिकी क्रिया तथा जीविकाके लिये व्यापार आदिकी क्रिया—शरीर एवं वाणी आदि इन्द्रियोंसे करते आये हैं, चाहे वही करते रहिये; किंतु भगवान्‌को कभी मत भूलिये। सांसारिक कार्यमें कहीं कमी भी आ जाय या दोष भी आ जाय तो उसका सुधार भगवान्‌की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे हो सकता है, क्योंकि कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌की अनन्यभक्तिसे उसका सुधार होकर उद्धार हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है—अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता।'

इससे यह समझना चाहिये कि दोषोंका नाश तो भगवान्‌की अनन्य भक्तिके प्रभावसे अनायास ही हो सकता है, किंतु अनन्य भक्तिमें कमी रह जायगी तो बड़ी भारी हानि है; क्योंकि उसकी पूर्ति अपने-आप सम्भव नहीं।

अतएव जिस कार्यके लिये हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है, उसी काममें इसको लगाना चाहिये। ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि, विचार और ज्ञान दिया है, उसको सार्थक करना चाहिये एवं इस मोहनिद्रासे सचेत होकर महापुरुषोंके पास जाना चाहिये तथा उनसे उस जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको जानकर अपना कल्याण करना चाहिये। कठोपनिषद्‌में बताया गया है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(१ । ३ । १४)

'उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनसे जानने-योग्य परमात्मतत्त्वको समझो ।'

इसलिये मनुष्य-शरीरके रहते-रहते ही परमात्माकी प्राप्तिरूप कार्यको सिद्ध करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये । भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(गीता ९ । ३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन ! तू इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही स्मरण कर ।'

यदि भगवान्के निरन्तर चिन्तनका प्रयत्न करते हुए देहपात भी हो जाय तो भी कल्याण ही है, किंतु भगवच्चिन्तनके बिना देहपात होनेके बाद पश्चात्ताप करनेसे कोई काम नहीं सिद्ध होता ।

अतः शरीरके रहते-रहते ही अपने कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये । नहीं तो आग लगनेके बाद कुआँ खोदनेसे कोई कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती ।

श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

(वैराग्यशतक ८६)

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर

है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जबतक आयु-का भी क्षय नहीं हुआ है, तभीतक समझदार मनुष्यको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा ?'

भोजराज कहते हैं—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति ॥

'मनोमोहिनी स्त्रियाँ हैं, मित्र भी अनुकूल हैं, बन्धुजन भी बड़े सुयोग्य हैं, सेवक भी प्रेमभरी बोली बोलनेवाले हैं, कितने ही हाथी चिग्घाड़ रहे हैं और तेज घोड़े हिनहिना रहे हैं, किंतु आँखोंके मूँद जानेपर उसके लिये कुछ भी नहीं रहता ।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे, मद-अंबु चुचाते ।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौनके गौनहु तें बढ़ि जाते ॥
भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते ।
ऐसे भए तौ कहा तुलसी जो पै जानकीनाथके रंग न राते ॥

(कवि० उत्तर० ४४)

मन बड़ा ही चञ्चल, प्रमादी और मूर्ख भी है । जैसे बालक विद्याका अभ्यास छोड़कर खेल-कूदमें चला जाता है, क्योंकि उसे खेल-कूदमें ही रस आता है, किंतु जब वह बड़ा होता है और उसमें समझ आ जाती है, तब वह पश्चात्ताप करता है कि बालकपन-

में मैंने खेल-कूदमें समय बिता दिया, विद्याका अभ्यास नहीं किया, यह मेरी बड़ी मूर्खता हुई। किंतु उस पश्चात्तापसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार जो मनुष्य निरन्तर भगवान्का चिन्तन न करके विषयभोगोंमें, व्यर्थ कार्योंमें और पाप-कार्योंमें रस लेता है, उसको भी घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४३)

श्रीसुन्दरदासजी भी कहते हैं—

तू कछु और विचारत है नर तेरो विचार धर्यौ ही रहैगौ।
कोटि उपाय करै धनकै हित भाग लिख्यौ तितनो ही लहैगौ॥
भोर कि साँझ घरी पल माँझ सु काल अचानक आइ गहैगौ।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत सुंदर यों पछिताइ कहैगौ॥
(सुन्दर-विलास अंग ३ पद ७)

हमलोग थोड़ा विचार करके देखेंगे तो हमलोगोंका मनसे भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभावका चिन्तन करना तथा शास्त्र और सत्संगके द्वारा भक्ति-ज्ञान, वैराग्य-सदाचार आदि अध्यात्म-विषयका पठन, श्रवण और मनन करना आदि सात्त्विक कार्यरूप परमार्थमें बहुत ही कम समय बीतता हुआ मिलेगा, किंतु हमारे समयका कुछ हिस्सा तो स्वाद-शौक, ऐश-आराम, भोग-विलास, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि राजस कार्यरूप स्वार्थमें बीतता हुआ

मिलेगा एवं अधिकांश समय मूर्खताके कारण निद्रा, आलस्य, प्रमाद और पाप आदि तामस कर्मरूप अनर्थमें बीतता मिलेगा। इसलिये भगवान्‌ने जो हमको बुद्धि, विवेक और ज्ञान दिया है, उसके द्वारा मनको समझाना चाहिये एवं उसे राजस-तामसरूप स्वार्थ और अनर्थके कार्योंसे हटाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर परमात्माके चिन्तनरूप परमार्थमें लगाना चाहिये। इस प्रकार मनको परमार्थमें लगाना ही उसका सदुपयोग है और इसके विपरीत लगाना ही उसका दुरुपयोग है। मनका स्वभाव बहुत ही गिरा हुआ है, उसका सुधार भगवान्‌का आश्रय लेकर अतिशय तत्परतासे प्रयत्न करनेपर ही भगवान्‌की कृपासे हो सकता है।

इस समय हमको सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त है। अध्यात्म-विषयकी उन्नतिके लिये यह भारतवर्ष उत्तम देश है तथा जिसमें अल्पकालके साधनसे ही शीघ्र कार्यकी सिद्धि हो जाती है—ऐसा यह उत्तम कलिकाल है। ऐसे उत्तम देश-कालमें भगवान्‌ने कृपा करके हमको मनुष्य-शरीर दे दिया और भजन-ध्यान करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ दे दीं। इस समय अध्यात्मविषयक पुस्तकें भी कम मूल्यमें प्राप्त हो जाती हैं। उत्तम पुरुषोंका सङ्ग भी प्राप्त हो सकता है। धर्मके निष्कामभावपूर्वक थोड़े-से अनुष्ठानसे ही कल्याण हो सकता है। ये सब संयोग पाकर भी यदि हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो हमारे लिये बहुत ही लज्जा, दुःख और शोककी बात है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४४)

अतः हमलोगोंको विचार करना चाहिये और पतनकारक काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, दर्प, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आसक्ति और अज्ञानके वशमें होकर एक क्षण भी परम सुहृद् भगवान्‌को नहीं भूलना चाहिये । वैराग्ययुक्त भावसे त्रिलोकीके ऐश्वर्यको ठुकराकर केवल एक भगवान्‌का ही प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना चाहिये । हमारे लिये इसके समान और कोई भी परम उपयोगी कार्य नहीं है । तब हम दूसरे काममें एक क्षण भी अपने चित्तको क्यों लगायें ? इसलिये चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते—हर समय भगवान्‌को याद रखनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये तथा जप-ध्यान, संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना करनेके समय तो उनके अर्थ और भावको अच्छी तरह समझकर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे गुण और प्रभावयुक्त भगवान्‌के स्वरूपका मनसे निरन्तर चिन्तन विशेषतासे होना ही चाहिये । रात्रिमें सोनेके समय भी विशेषतासे भगवान्‌को याद करते हुए ही सोना चाहिये । इससे हमारा रात्रिका शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो सकता है; क्योंकि मनुष्य १८ घंटे जिस कार्यका अभ्यास करता है, रात्रिमें ६ घंटे स्वप्न-सुषुप्तिके भी प्रायः वैसे ही बीतते हैं । अतः लाख काम छोड़कर यही काम करें कि भगवान्‌को कभी न भूलें ।

भगवान्‌की निरन्तर स्मृतिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि दोषोंका और सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश होकर भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति शीघ्र ही हो सकती है।

श्रीभागवतकार कहते हैं—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

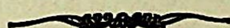
(१२।१२।५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि, भगवान्‌की भक्ति एवं विज्ञान-वैराग्यसे युक्त (भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ) ज्ञान प्राप्त हो जाता है।'

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्॥

(२।२।३६)

'इसलिये परीक्षित्! सभी मनुष्योंको चाहिये कि वे सब समय सब परिस्थितियोंमें सब प्रकारसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें।'



ईश्वर और महापुरुषोंका प्रभाव

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति और सामर्थ्यसे सम्पन्न, असम्भवको भी सम्भव कर सकनेवाले परमेश्वरका प्रभाव अपरिमित है। वस्तुतः ईश्वरके स्वरूप और प्रभावका वर्णन वाणीद्वारा नहीं किया जा सकता। जिस मनुष्यको ईश्वरका यथार्थ अनुभव हो जाता है, वही उन्हें जानता है। वाणीसे तो वह भी नहीं कह सकता। इस सम्बन्धमें एक दृष्टान्त है। मान लीजिये, मर्त्यलोकका एक मनुष्य पृथ्वीके अंदर ऐसे नीचेके पाताललोकमें गया, जहाँ सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंका कभी दर्शन नहीं होता; इस कारण वहाँ घोर अन्धकार-ही-अन्धकार रहता है। वहाँ जानेपर जब कुछ समय बीत गया तो उसने वहाँके लोगोंसे पूछा—'क्या यहाँ दिन नहीं होता?' उन लोगोंने कहा—'दिन क्या?' उसने कहा—'सूर्यका उदय होनेसे जो महान् प्रकाश होता है, उसे दिन कहते हैं।' उन्होंने पूछा—'सूर्य क्या है?' उसने कहा—'आकाशमें प्रकाशका महान् पुञ्जरूप एक गोलाकार पिण्ड-सा उदित होता है, वह सूर्य है।' तब वहाँके निवासियोंने बिजलीका हजारों पावरका एक बल्व आकाशमें

स्थित किया और उसे जलाकर पूछा—'सूर्य ऐसा ही होता है ?' वह मनुष्य बोला—'यह सूर्यके मुकाबिलेमें कुछ नहीं है।' वहाँके निवासियोंने कहा—'इससे बढ़कर प्रकाश हो ही नहीं सकता।' वह बोला—'आप अपने एक व्यक्तिको मेरे साथ पृथ्वीपर भेजें, तो मैं उसे प्रत्यक्ष दिखला सकता हूँ।' इसपर उन्होंने वहाँके एक व्यक्तिको उसके साथ भेज दिया। वह मनुष्य उस पाताललोकके व्यक्तिके साथ मनुष्यलोकमें आया, उस समय अमावस्याकी अर्धरात्रिका घोर अन्धकार व्याप्त था, तब भी यहाँ उस लोककी अपेक्षा प्रकाश था। उसे देखकर उस व्यक्तिने पूछा—'यही दिन है ?' उस मनुष्यने उत्तर दिया—'यह तो घोर रात्रि है।' तब जो आकाशमें तारे चमक रहे थे, उनके बारेमें उस पातालवासी व्यक्तिने पूछा—'यह क्या है ?' उस मनुष्यने कहा—'ये तारे हैं।' जब अरुणोदय होनेपर तारोंकी चमक क्षीण हो गयी और व्यापक प्रकाश-सा प्रतीत होने लगा, तब उसने पूछा—'यह दिन है ?' उस मनुष्यने उत्तर दिया—'नहीं, यह तो प्रभात है, अरुणोदय है। जब दो घड़ी बाद सूर्योदय होगा, तब दिन माना जायगा।' उस व्यक्तिने पूछा—'आकाशमें जो तारे चमकते थे, उनकी रोशनी कम कैसे पड़ गयी ?' मनुष्यने उत्तरमें कहा—'सूर्यका आभास यहाँ आनेसे तारोंकी ज्योति क्षीण हो गयी। जब सूर्योदय हो जायगा तब उनके तीव्र प्रकाशमें ये तारे आकाशमें ज्यों-के-त्यों रहते हुए भी नहीं दीखेंगे।' तत्पश्चात् जब सूर्योदय होनेका समय निकट आ गया तब शुक्र और बृहस्पतिके सिवा सारे तारे छिप

गये एवं जब सूर्योदय हो गया, तब तो शुक्र और बृहस्पति भी दीखने बंद हो गये। जो व्यक्ति नीचेके लोकसे आया था, वह सूर्यको देख नहीं सका। तब जैसे अभ्रक (अबरक) पर दीपकके काजलकी कालिमा लगाकर सूर्यग्रहणके समय सूर्यको देखा जाता है, उसी प्रकार उसने देखा। सूर्य, दिन और रातको उसने अच्छी तरह समझ लिया। फिर वह मनुष्य उस व्यक्तिको लेकर उस लोकको गया। वहाँके निवासी लोगोंने उस व्यक्तिसे पूछा—'तुमने सूर्यका स्वरूप प्रत्यक्ष देखा? दिन और रातको प्रत्यक्ष देखा?' वह व्यक्ति बोला—'हाँ, मैंने प्रत्यक्ष देखा है।' उन्होंने कहा—'अब तुम हमको अपनी भाषामें ठीक-ठीक समझा दो।' उसने उत्तर दिया—'यह मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है। मैं किसी प्रकार भी नहीं समझा सकता। आपलोगोंको समझना हो तो वहाँ जाकर समझिये, और दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

अब हमें इस दृष्टान्तपर विचार करना चाहिये। जब प्रत्यक्षमें देखनेवाला व्यक्ति भी, जिस देशमें सूर्य या दिन नहीं है, उस देशमें सूर्य या दिनको वाणीद्वारा नहीं समझा सकता, तब फिर परमात्माके स्वरूप और प्रभावको मनुष्य वाणीद्वारा कैसे समझा सकता है? परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही मनुष्य परमात्माके स्वरूप और प्रभावको यथार्थ समझ सकता है। किंतु वह भी फिर दूसरोंको समझा नहीं सकता। फिर भी जो शास्त्र और महात्मा पुरुषोंद्वारा यत्किञ्चित् समझाया जाता है, वह उस परमात्माका आभासमात्र है। भगवान्‌ने गीतामें अपना प्रभाव जगह-जगह व्याख्या करके समझाया है, किंतु गीताके अर्थको समझकर भी भगवान्‌का स्वरूप और प्रभाव ठीक-ठीक समझमें नहीं आता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इससे यह समझना चाहिये कि संसारमें जो भी विभूति, कान्ति, बल और प्रभावसे युक्त पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भी भगवान्के प्रभावके एक अंशका ही प्राकट्य है।

अतः भगवान्का प्रभाव अपरिमित, अपार, असीम और अनिर्वचनीय है। भगवान्के सगुण-साकार स्वरूपका श्रद्धापूर्वक दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे पापी-से-पापी मनुष्यका भी शीघ्र कल्याण हो जाता है। हम भगवान्का स्मरण करें तो भी हमको परम लाभ है और भगवान् हमारा स्मरण करें तो भी हमको परम लाभ है। हम भगवान्को याद करें तो हमारा हृदय परम पवित्र होकर हमारा उद्धार हो सकता है और भगवान् हमको याद करें तो हम उन गुणसागर भगवान्के हृदयमें प्रवेश करनेसे परम पवित्र होकर हमारा उद्धार हो सकता है। इसीलिये अङ्गदने हनुमान्जीसे यह कहा था कि आप समय-समयपर भगवान् श्रीरामको मेरी स्मृति कराते रहें—

कहेहु दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥

(रा० च० मा०, उत्तर० १९ क)

इसलिये हमलोगोंको हर समय भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌का यह नियम है कि जो भगवान्‌को याद करता है, उसे भगवान् भी याद करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

इसी प्रकार भगवान् हमपर दृष्टिपात करें तो हम परम पवित्र हो जाते हैं और हम भगवान्‌का दर्शन करें तो हम परम पवित्र हो जाते हैं और हमारा उद्धार हो सकता है। यों सभी प्रकार हमारा परम लाभ है। फिर भगवान्‌के वार्तालाप और चरणस्पर्शसे उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

किंतु बिना श्रद्धाके ऐसा नहीं होता, जैसे भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन पाकर भी दुर्योधनका उद्धार नहीं हुआ। बिना श्रद्धाके तो साक्षात् भगवान्‌के वचनरूप गीतोपदेशको पढ़-समझकर भी उद्धार नहीं हो सकता।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

'परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

परंतु जो भगवान्में श्रद्धा रखता है, भगवान्के दिव्य जन्म और कर्मके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है, उसका उद्धार हो जाता है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान् अर्जुन-जैसे श्रद्धालु पात्रको ही अपने जन्म (अवतार) का रहस्य बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

किंतु राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिवाले मूढ़ मनुष्य श्रद्धारहित और अपात्र होनेके कारण भगवान्के रहस्यको नहीं जानते, इसलिये ये भगवान्का तिरस्कार करते हैं (देखिये गीता ९। ११-१२)। वे अश्रद्धालु मनुष्य भगवान्के प्रभावसे अनभिज्ञ रहते हैं,

अतः भगवान् उनके सामने प्रकट नहीं होते, अपने ऊपर योगमायाका पर्दा डाले रहते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(गीता ७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने मरनेवाला समझता है।'

अर्जुन भगवान्‌के श्रद्धालु और प्रेमी भक्त थे, इसलिये भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये और उनको उन्होंने परिचय दे दिया कि 'मैं ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हूँ' (गीता ४। ६)। तू मेरे शरण होकर मेरी ही भक्ति कर, इससे तू मुझको प्राप्त हो जायगा (गीता ९। ३४)। अठारहवें अध्यायके अन्तिम उपदेशमें भी कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(गीता १८। ६४-६५)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हित-कारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। अर्जुन! मुझमें मनवाला हो,

मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

भगवान्‌ने अपने स्वरूपका वर्णन भी जगह-जगह किया है। निर्गुण-निराकार स्वरूपका १२वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें, सगुण-निराकार स्वरूपका ८वें अ०के ९वेंमें तथा ९वें अ०के ४, ५, ६, १८वेंमें और सगुण-साकार विश्व-स्वरूपका ११वें अ०के ५, ६, ७वेंमें वर्णन किया है। अर्जुनने भगवान्‌से सगुण-साकार चतुर्भुज स्वरूपका दर्शन देनेके लिये प्रार्थना की (गीता ११। ४६), तब भगवान्‌ने अपना चतुर्भुज स्वरूप अर्जुनको दिखला दिया—इसका ११वें अ०के ५०वें श्लोकमें वर्णन है। इसलिये सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इसके तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जानता है, उसका निश्चय ही उद्धार हो जाता है।

इसी प्रकार, संसारके कल्याणके लिये भगवान् अपना अधिकार देकर जिस भक्तको भजते हैं अथवा यही जो महापुरुष हैं, उनमेंसे किसीको अपना अधिकार दे देते हैं, उन पुरुषोंके भी श्रद्धापूर्वक दर्शन, चरण-स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन करनेसे मनुष्य परम पवित्र हो जाता है, जिससे उसका उद्धार हो सकता है; क्योंकि ईश्वर और ईश्वरका अधिकार पाये हुए पुरुषोंद्वारा जो कुछ देखा जाता है; स्पर्श किया जाता है, मनन किया जाता है, वह सब परम पवित्र हो जाता है। उन महापुरुषोंका प्रभाव बड़ा ही विलक्षण, दिव्य,

अलौकिक और अपरिमित है। किंतु ऐसे महात्मा करोड़ों मनुष्योंमें ही कोई एक होते हैं। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
> (७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

अतः प्रथम तो परमात्माकी प्राप्तिवाले पुरुष ही संसारमें बहुत कम हैं। उनमें भी अधिकार पाये हुए पुरुष तो और भी दुर्लभ हैं। उन महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होना बड़ा ही कठिन है, यदि सङ्ग प्राप्त हो जाय तो उनको पहचानना बहुत मुश्किल है; क्योंकि उनको तो कोई आवश्यकता नहीं रहती जो कि वे अपनेको जनावें और साधारण मनुष्योंमें उनको पहचाननेकी योग्यता नहीं होती। यदि कहें कि गीतामें द्वितीय अ०के ५५वेंसे ५८वें तक, ६ठे अ०के ७वेंसे ९वें तक, १२वें अ०के १३वेंसे १९वें तक और १४वें अ० के २२वेंसे २५वें श्लोकतक—आदि-आदि श्लोकोंमें जो लक्षण बतलाये गये हैं, उन लक्षणोंके अनुसार हम उनको पहचान सकते हैं तो यह कठिन है, क्योंकि ये सब लक्षण स्वसंवेद्य हैं, पर-संवेद्य नहीं। यदि कहें कि तब फिर उनको कैसे पहचानें तो इसका उत्तर यह है कि जिसके दर्शन-भाषणसे अपनेमें महापुरुषोंके उपर्युक्त लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, वही हमारे लिये महात्मा है।

यदि महात्मा पुरुषोंकी श्रद्धापूर्वक सेवा, वार्तालाप और नमस्कार किया जाय तो एक महात्मासे कई महात्मा बन सकते हैं, जैसे यदि दीपकोंमें तेल और बत्ती हो तो एक दीपकसे कई दीपक जलाये जा सकते हैं। यहाँ श्रद्धा-विश्वास ही तेल-बत्ती है। महापुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार चलना श्रद्धा है और उनके संकेतके अनुकूल चलना विशेष श्रद्धा है। उससे भी अधिक श्रद्धा वह है कि उनके सिद्धान्तको समझकर उनके मनके अनुकूल चलना अर्थात् उनकी इच्छाके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति चेष्टा करना। कोई बात उनसे पूछनेकी इच्छा हो तो उनको साष्टाङ्ग प्रणाम करके जिज्ञासु भावसे सरलता, श्रद्धा, विनय और प्रेमपूर्वक पूछ सकते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(गीता ४। ३४)

'उस परमात्माके यथार्थ ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

भगवान्‌ने यह जिज्ञासुके लिये कर्तव्य बताया है; किंतु महात्मा-से इन सबको स्वीकार करनेके लिये नहीं कहा है। जिज्ञासुके द्वारा इस प्रकार करनेपर भी महात्मा स्वीकार नहीं करता; क्योंकि उसके

शरीरमें कोई धर्मी है ही नहीं, तब कौन स्वीकार करे। किंतु इस प्रकार सेवादि करनेवाला कोई जिज्ञासु श्रद्धालु पात्र हो तो वह उसका विशेष विरोध भी नहीं करता। उपराम रहना तो उनका स्वभाव ही है; क्योंकि विवेक, वैराग्य, उपरति आदि गुण तो उनमें साधन-कालमें ही स्वभावसिद्ध हो गये थे।

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं वे व्यक्ति बनकर अपनेको नहीं पुजवाते; क्योंकि उनका देहमें किञ्चिन्मात्र भी ममता और अभिमान नहीं रहता। जो कोई अपनेको महात्मा समझता है, अपने पूजन, आदर, सत्कार, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठासे दूसरोंका उद्धार समझता है, वह महात्मा नहीं है; क्योंकि अपनेको श्रेष्ठ और दूसरोंको तुच्छ समझना, अपनेको महात्मा और दूसरोंको अज्ञानी समझना तो बहुत नीचे दर्जेकी बात है। महात्माके न तो देहमें अहंता-ममता ही रहती है और न देहमें कोई धर्मी ही रहता है, फिर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा-आदर आदिकी इच्छा कौन करे। जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा-आदर आदिकी इच्छा रखते हैं, वे तो उच्च श्रेणीके साधक भी नहीं हैं,वरं वे तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठादिके किंकर हैं।

ऊपर यह बताया गया है कि ईश्वर अश्रद्धालु मनुष्योंके सम्मुख अपने ऊपर योगमायाका पर्दा डाले रहते हैं, इसी प्रकार इस रहस्यको जाननेवाले भगवान्‌के सच्चे अनुयायी महात्मा पुरुष भी अपने ऊपर मायाका पर्दा डाले हुए साधारण मनुष्यकी भाँति रहते हैं। किंतु जो वास्तवमें जिज्ञासु, श्रद्धालु और पात्र है, उसके सामने वे कहीं हाव-भावसे भगवत्प्राप्तिरूप अपनी स्थितिका निरभिमान भावसे परिचय दे

भी दें तो कोई दोष नहीं है। वे वस्तुतः महात्मा होकर भी लोक-संग्रहके उद्देश्यसे जिज्ञासु और साधककी भाँति साधारणतया विचरण करें तो इससे उनकी परमात्म-प्राप्तिरूप स्थिति नष्ट नहीं होती। किंतु साधारण मनुष्य महात्मा बनकर पूजा करावे तो उसके लिये भार है; क्योंकि महात्मा पुरुष, सकामभावसे शास्त्र-विहित कर्म करनेवाले अज्ञानी पुरुषके कर्मोंका निष्काम और अनासक्त भावसे लोकसंग्रहके लिये अनुकरण करते हैं (देखिये गीता ३। २५)। यदि कहें कि सकामी अज्ञानी पुरुषके शास्त्र-विहित कर्मोंका अनुकरण ज्ञानी पुरुष क्यों करते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि सकामी मनुष्य, यह सोचकर कि कहीं कर्मोंके विधि-विधानमें कमी रह जायगी तो हम फलसे वञ्चित रह जायेंगे, फलकी इच्छाके लोभसे शास्त्रकी आज्ञाका पालन अच्छी प्रकार करते हैं; इसीलिये उन कर्मोंमें विगुणता या कमी आनेकी गुंजाइश नहीं रहती। इसलिये महापुरुष निष्काम, अनासक्त और अभिमान-रहित हुए ही लोकसंग्रह यानी संसारके कल्याणके लिये उन सकामी अज्ञानी मनुष्योंके शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुकरण करते हैं।

ईश्वर और महापुरुषोंके स्वरूप और प्रभावका यथार्थ ज्ञान उनकी कृपासे ही होता है। अतः उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये श्रद्धाभक्तिपूर्वक निष्काम भावसे गीता ९। ३४ और ४। ३४ के अनुसार सब प्रकारसे उनके शरण हो जाना चाहिये।



भगवान्‌के परम दिव्य गुणसम्पन्न स्वरूपका ध्यान

श्रीभगवान्‌के ध्यानके समान संसारमें कल्याणका और कोई भी दूसरा साधन नहीं है। इसलिये मनुष्यको भगवान्‌का ध्यान श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये। एकान्तवास, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और मनन, नामका जप, स्वरूपका स्मरण, लीला और गुण-प्रभावका चिन्तन, तत्त्व और रहस्यका ज्ञान, भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम तथा संसारके भोगोंसे वैराग्य और उपरति—ये सब भगवान्‌के ध्यानमें विशेष उपयोगी हैं; क्योंकि भगवान्‌के नामके जपसे स्वरूपकी स्मृति होती है, स्वरूपकी स्मृतिसे चरित्र (लीला) की स्मृति होती है, लीलाकी स्मृतिसे गुण-प्रभावकी अनुभूति होती है, इन सबके स्मरण और मननसे भगवान्‌का तत्त्व-रहस्य जाना जाता है, उससे श्रद्धा-प्रेम बढ़ता है, तब सांसारिक भोगोंसे वैराग्य और उपरति होकर भगवान्‌के ध्यानमें गाढ़ स्थिति हो जाती है।

अतः साधककी साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण जिस स्वरूपमें रुचि हो, उसे अपने उसी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। उस परमात्माके निर्गुण-निराकारसहित असंख्य दिव्य गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा ध्यान ही भगवान् पुरुषोत्तमके समग्र रूपका ध्यान है। इसको समझानेके लिये इसके सदृश दृष्टान्त, दार्ष्टान्त, उदाहरण, रूपक, उपमा संसारमें हैं ही नहीं। जिस देशमें सूर्य नहीं, उस अन्धकार-

मय देशमें किसी भी दृष्टान्तके द्वारा सूर्यको समझाना कदापि सम्भव नहीं; क्योंकि जब सूर्यके सदृश दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब उसे किस रूपमें कैसे समझाया जाय ? इसी प्रकार परमात्माका वह अति विलक्षण दुर्विज्ञेय स्वरूप किसी भी दृष्टान्त-के द्वारा यहाँ समझाया जाना कठिन है ।

जैसे, आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें कारणभूत परमाणुरूपमें स्थित जल अव्यक्त और अप्रकट है, वह दूरवीक्षण यन्त्र या अन्य किसी भी साधनके द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकता; किंतु वही जल जब रसमय होकर आकाशमें स्थित रहता है, तब भी वह देखनेमें तो नहीं आता, किंतु विचारके द्वारा अनुभवमें आ सकता है और वही जल जब बादल और बूँदोंका रूप धारण करके ओलों (बर्फके ढेलों) के रूपमें बरसने लगता है, तब वह प्रत्यक्ष देखने तथा पकड़नेमें भी आता है । उस प्रकट जलसे सभी प्रकार-का जलोचित व्यवहार किया जा सकता है । यह जलका उदाहरण चेतन परमात्माकी उपमाके योग्य नहीं है; क्योंकि जल जड, परिणामी, विनाशशील, एकदेशीय, विकारी और अल्प है तथा परमात्मा इससे सब प्रकारसे विलक्षण, नित्य, चेतन, निर्विकार और अनन्त है, अतः उस अनुपम और अप्रमेय परमात्माके लिये कोई दृष्टान्त या उदाहरण है ही नहीं । तथापि महात्मागण समझानेके लिये किसी-न-किसी दृष्टान्तको सामने रखकर ही यथाशक्ति यत्किञ्चित् उसका तत्त्व आंशिकरूपसे समझाया करते हैं ।

जैसे अव्यक्त कारणरूपमें स्थित निराकार जल ही रसके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही भक्तोंके

प्रेम और भावके कारण विज्ञानानन्दमय सगुण-निराकार रूपमें प्रकट होते हैं। फिर जैसे वही जल बादल और बूँदोंके रूपमें प्रकट होकर ओलोंका रूप धारण करता है, उसी प्रकार दिव्य चिन्मय निरतिशय कल्याणमय गुणसमूहोंके महान् समुद्र सगुण-निराकार परमात्मा अनन्त महान् प्रकाशके रूपमें प्रकट होकर फिर नित्य दिव्य प्रकाशपुञ्ज सगुण-साकाररूपमें प्रकट होकर दृष्टिगोचर होते हैं। जिस परम प्रेमी श्रद्धालु भक्तको भगवान्के उस दिव्य स्वरूपके दर्शन होते हैं, उस भगवद्भक्तकी दृष्टि भी दिव्य हो जाती है। भगवान्का भक्त भगवान्की कृपासे इन चर्म-चक्षुओंसे भी भगवान्के उस अति दिव्य अद्भुत रूपका दर्शन कर सकता है। भगवान्का दर्शन पाकर वह भक्त आनन्दमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता, उसे एक श्रीभगवान्के सिवा अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता, वह अपने-आपको भी भूल जाता है। उस रूपमाधुरीके दर्शनके प्रभावसे उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती, वह एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उस दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन ही करता रहता है। फिर चेत होनेपर वह भक्त भी उस दिव्य रूप-माधुरीका वर्णन नहीं कर सकता; क्योंकि उस अपरिसीम अप्रमेय दिव्य गुणगणसम्पन्न माधुरी मूर्तिका वर्णन करनेमें वाणी सर्वथा असमर्थ रहती है। फिर मुझ-जैसा एक साधारण मनुष्य तो उस परम दिव्य रूपमाधुरीके किसी शतांशका वर्णन करनेमें भी कैसे समर्थ हो सकता है। तथापि कुछ प्रेमी भाइयोंके आग्रहसे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है। वह मेरी धृष्टतामात्र है; इसके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

जिस समय भगवान् प्रकट होते हैं, उसके पूर्व ही साधकके बाहर और उसके शरीरके अंदर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें तथा शरीरके अणु-अणुमें अनन्त, अतिशय दिव्य, अलौकिक चेतनता, प्रसन्नता, शान्ति, समता और आनन्द परिपूर्ण हो जाते हैं। फिर परमात्माका यह सगुण-निराकार स्वरूप ही सगुण साकाररूपमें परिणत होकर उसके सम्मुख दृष्टिगोचर होता है। निरतिशय प्रेमानन्दस्वरूप भगवान्‌की यह दिव्य मधुर मूर्ति अत्यन्त मनोहर, अनन्त प्रेममय, दिव्य अमृतमय, महान् रसमय और परम आनन्दमय है। इस परम मनोहर दिव्य मूर्तिका चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त ध्यान करके साधक भी रसमय, प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय हो जाता है। अतः साधकको उस प्रेमानन्दमयी मूर्तिका साक्षात्कार करनेके लिये उसका अपने सम्मुख आकाशमें निम्नलिखित प्रकारसे ध्यान करना चाहिये—

अपने नेत्रोंसे करीब तीन हाथकी दूरीपर आकाशमें साक्षात् विज्ञानानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही दिव्य चेतन महान् प्रकाशमय सगुण-साकार श्रीविष्णुके रूपमें विराजमान हो रहे हैं। वे अखिल सौन्दर्यकी निधि एवं अपनी अनन्त महिमासे नित्य महिमान्वित हैं। वे नीलमणिके सदृश श्याम होते हुए भी दिव्य निर्मल उज्ज्वल प्रकाशके कारण हल्की-सी नीलिमासे युक्त अति शुभ्र श्वेतरूपमें अनन्त सूर्योंसे भी बढ़कर प्रकाशित और देदीप्यमान हो रहे हैं, किंतु वह महान् तेजोमय प्रकाश शीतलताके पुञ्ज चन्द्रमासे भी बढ़कर अत्यन्त शान्तिमय है। उनका श्रीविग्रह षोडशवर्षीय सुन्दर

राजकुमारके-से आकारका करीब साढ़े तीन हाथ लंबा और एक हाथ चौड़ा है। उनके चरणोंके तलुओंमें गुलाबी रंगकी झलक है और उनमें ध्वजा (पताका), जौ, अङ्कुश, शङ्ख, चक्र, कमल, वज्र, स्वस्तिक आदिके चिह्न (रेखाएँ) सुशोभित हो रहे हैं। उनके चरण तथा चरणोंकी अँगुलियाँ बहुत ही चमकीली, कोमल, चिकनी और अतिशय सुन्दर हैं। अँगुलियोंमें संलग्न चाँदनीयुक्त चन्द्रमाके समान उद्भासित नखश्रेणियोंकी ज्योति एक निराले ही ढंगकी है, मानो दिव्य रत्न चमक रहे हों। भगवान्‌के चरणोंमें स्थित नूपुरोंकी ध्वनि ऐसी अमृतमयी और मधुर है कि कर्णपुटोंमें प्रवेश करते ही साधकका मन उसीमें तल्लीन होकर मन्त्र-मुग्धकी तरह स्तब्ध हो जाता है। उनके मृदुल चरणोंका स्पर्श बड़ा ही विलक्षण, अत्यन्त अमृतमय, महान् रोमाञ्चकारक और परम आनन्ददायक है। भगवान् अति दिव्य, सुकोमल (मुलायम) और चमकीला पीताम्बर पहने हुए हैं, जिसके भीतरसे भगवान्‌की महान् प्रकाशमयी देहद्युति चमक रही है। उनकी पिण्डलियाँ, घुटने तथा जङ्घाएँ भी बड़ी ही कोमल, चिकनी, चमकीली और परम सुन्दर हैं। भगवान् अपने पतले और अति मनोहर कटिभागमें दिव्य रत्नोंसे जड़ी हुई करधनी धारण किये हुए हैं। ब्रह्माजीका उत्पत्तिस्थान उनका नाभि-कमल अत्यन्त गम्भीर है तथा उदर त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित और अति सुन्दर है। भगवान्‌का वक्षःस्थल विशाल, अत्यन्त पुष्ट, अतिशय मनोरम और चौड़ा है। भगवान्‌के चार भुजाएं हैं, दो ऊपरकी ओर फैली हुई हैं और दो नीचेकी ओर घुटनोंतक पसरी हुई हैं। भुजाएँ



भगवान् श्रीविष्णु



लंबी, बड़ी ही मृदुल, चिकनी, चमकीली, अत्यन्त पुष्ट, बलशालिनी, गोलाकार, चूड़ी-उतार (क्रमशः ऊपरसे मोटी और नीचेसे पतली) तथा परम मनोहर हैं । भगवान्‌की हथेली मन्द-मन्द गुलाबी रंगकी, बड़ी ही सुन्दर, शङ्ख, चक्र, कमल, यव, अंकुश, ध्वजा, स्वस्तिक आदि चिह्नोंसे सुचिह्नित एवं परम शोभासंयुक्त है। उनके हाथोंकी अँगुलियोंमें संलग्न नखश्रेणियोंकी ज्योति अतिशय उज्ज्वल और बड़ी ही चित्ताकर्षक है, मानो दिव्य रत्नोंकी पंक्ति चमक रही हो । चारों हाथोंकी अँगुलियोंमें रत्नजटित स्वर्णमय अँगूठियाँ और हाथोंमें कड़े तथा भुजबन्द सुशोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के नीचेके दाहिने हाथमें परम ओजस्विनी कौमोदकी गदा तथा बायें हाथमें अति सुन्दर कमल है एवं ऊपरके दाहिने हाथमें अत्यन्त तेजोमय सुदर्शन चक्र और बायें हाथमें परम उज्ज्वल अति शुभ्र पाञ्चजन्य शङ्ख शोभायमान हो रहा है। वे अपने नीलिमायुक्त कण्ठदेशमें अतिशय देदीप्यमान दिव्य मुक्ता, रत्न और स्वर्णकी मालाएँ धारण किये हुए हैं एवं तुलसी और अलौकिक पुष्पोंकी वनमालाएँ घुटनोंतक लटकी हुई हैं। कोमल पल्लव और फूलोंके समूहद्वारा बनाये हुए हारसे शङ्खके समान मनोहर ग्रीवा बड़ी सुन्दर जान पड़ती है। उनके वक्षःस्थलपर रत्नजटित चन्द्रहार तथा परम दिव्य कौस्तुभमणि बाल सूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रही है । वक्षःस्थलके मध्यभागमें स्वच्छ दर्पणमें मुख दीखनेकी भाँति श्रीलक्ष्मीजीका (श्रीवत्स) चिह्न दिखलायी पड़ता है और उसके ऊपर श्रीभृगु-लताका चिह्न है। भगवान्‌के कंधे उन्नत, पुष्ट और कोमल हैं, उनपर स्वर्णमय यज्ञोपवीत और केसरिया रंगका उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) धारण किये हुए

हैं। भगवान्‌की ग्रीवा लंबी है तथा कण्ठ और चिबुक अति सुन्दर हैं। भगवान्‌के अधर और ओष्ठ बिम्बफल, लालमणि और मूँगेकी भाँति चमक रहे हैं। भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, उनका मुखारविन्द खिले हुए कमलपुष्पकी तरह मनोहर हास्य, परम शोभा, उज्ज्वल कान्ति और अतिशय निर्मल उल्लाससे संयुक्त है; जिससे अतिशय निर्मल दाँतोंकी पंक्ति मोतियोंकी पंक्तिकी भाँति परम शोभायुक्त और अति मनोहर दृष्टिगोचर हो रही है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही सुन्दर, स्पष्ट, कोमल और मधुर है, जो कर्णपुटोंको अमृतके तुल्य प्रिय प्रतीत होती है। नासिका बड़ी ही मनोहर है। भगवान्‌के कपोल (गाल) चमकीले, चिकने, कोमल, स्वच्छ और मन्द-मन्द गुलाबी रंगकी झलकसे युक्त परम कान्तिमय हैं, उनपर कानोंमें संलग्न कुण्डलोंकी झलक शोभा दे रही है। परम सुन्दर और विशाल कानोंमें मकरकी आकृतिवाले रत्नजटित स्वर्णमय कुण्डल बालसूर्यकी भाँति चमक रहे हैं। भगवान्‌के नेत्र विस्तृत कमलपत्रकी तरह अति सुन्दर, विशाल, चमकीले और खिले हुए कमल-पुष्पकी भाँति अतिशय प्रफुल्लित एवं परम ज्योतिर्मय हैं। भगवान् अपने अपरिसीम प्रेम और दयासे मुझको अपलक (एकटक) देखते हुए मानो प्रेम, दया, आनन्द, शान्ति, समता, ज्ञान आदि गुणोंकी मुझपर अनवरत वर्षा कर रहे हैं और जैसे पूर्णकलायुक्त चन्द्रमाकी अमृतमयी किरणोंसे सम्पूर्ण ओषधियोंमें अमृतमय रस परिपूर्ण हो जाता है, उसी तरह भगवान्‌के नेत्रोंसे प्रवाहित वह दिव्य अमृतमय गुणोंकी अजस्र धारा मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अणु-अणुको अपने उस परम दिव्य रससे आप्यायित

करती हुई सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है, जिससे वे गुण मुझमें प्रवेशकर रोम-रोममें भलीभाँति व्याप्त होकर ऐसी चेतनता, आनन्द, शान्ति और प्रेमका मधुर रसास्वादन करा रहे हैं जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। मैं भगवान्‌के उस अखिल-सौन्दर्य-रससुधानिधि मुखारविन्दको देखकर बार-बार मुग्ध हो रहा हूँ और एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींके रूपको देख रहा हूँ। भगवान्‌की भौंहें भ्रमरोंकी तरह कृष्णवर्ण हैं तथा भृकुटी विशाल और अतिशय सुन्दर है, जिससे समस्त जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह सूचित हो रहा है। भगवान्‌का ललाट चमकीला, चिकना, अति विशाल और परम शोभायमान है, उसपर अति सुन्दर श्रीधारण तिलक है। मस्तक चमकीली, चिकनी, काली घुँघराली अलकावलीसे सुशोभित हो रहा है; केशोंमें पारिजात आदिके पुष्प गुँथे हुए हैं। मस्तकपर रत्नजटित स्वर्णमय परम कान्तियुक्त दिव्य मुकुट चमक रहा है। भगवान्‌के मुखारविन्दके चारों ओर सूर्यकिरणोंकी भाँति दिव्य प्रकाशकी अत्यन्त उज्ज्वल किरणें छिटक रही हैं। उनका मुखारविन्द अमृतमयी शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमासे भी बढ़कर कान्तिमान्, शोभामय और परम रमणीय है। भगवान्‌के श्रीविग्रहसे अत्यन्त दिव्य. परम मधुर सुगन्ध निर्गत हो रही है, जिसको मैं अपने नासापुटोंसे ग्रहण करके मानो अमृतका ही पान कर रहा हूँ। भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप—सभी प्रेममय, रसमय और आनन्दमय हैं।

भगवान्‌का श्रीविग्रह, वस्त्र, अलङ्कार, आभूषण, आयुध, मालाएँ आदि सभी दिव्य चिन्मय हैं। भगवान्‌के श्रीविग्रहकी

सुन्दरता इतनी मधुर और चित्ताकर्षक है कि जिसको देखकर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है! उनकी सुरूप-लावण्यमयी आकृतिको देखकर कामदेव भी लज्जित हो जाता है। करोड़ों कामदेवोंका सौन्दर्य भी भगवान्के सौन्दर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है। भगवान्की वह रूपमाधुरी भक्तपर एक जादूका-सा काम करती है। उस रूप-माधुरीके दर्शनसे ही इतना आकर्षण हो जाता है कि फिर उसे छोड़ा ही नहीं जा सकता। सम्पूर्ण जगत्का समस्त सौन्दर्य मिलकर भी भगवान्के सौन्दर्यके एक अंशके समान भी नहीं है। उनकी प्रेममयी सुन्दरताकी महिमा कोई भी नहीं गा सकता। भगवान्के नेत्रोंकी प्रेममयी दृष्टि पड़नेसे मनुष्य भगवान्के प्रेममें इतना तन्मय हो जाता है कि वह फिर भगवान्को कभी भुला नहीं सकता, बल्कि वह सदा अपने नेत्रोंसे भगवान्की रूपमाधुरीका ही पान करता रहता है। भगवान्की उस रूपमाधुरीके प्रत्यक्ष दर्शनकी तो बात ही क्या है, स्वप्नमें भी उसके दर्शन हो जाते हैं तो मनुष्य प्रेममें इतना निमग्न हो जाता है कि अपने जीवनमें उसे कभी भुला नहीं सकता तथा उसमें इतना अद्भुत आकर्षण है कि वह रसमय विग्रह एक बार भी यदि ध्यानमें आ जाता है तो फिर भक्त उसे भुलानेमें असमर्थ-सा हो जाता है और उस अमृतमय रसका आस्वाद लेता हुआ कभी तृप्त नहीं होता, वरं उस प्रेममय अतृप्तिमें अपने-आपको ही भुला देता है एवं उनके गुणोंको बार-बार स्मरण करके मुग्ध होता रहता है!

भगवान्में असीम और अत्यन्त विलक्षण सौम्यता, शान्ति, प्रेम,

सौहार्द, मधुरता, सुन्दरता, रमणीयता, रुचिरता, मनोहरता, नित्यनूतनता, उदारता, वीरता, निरभिमानता, निर्वैरता, भक्तवत्सलता, प्रेमाधीनता, पतितपावनता, सर्वमङ्गलकारिता, सच्चिदानन्दस्वरूपता, सर्वाराध्यता, कृतज्ञता, दानशीलता, धार्मिकता, सर्वश्रेष्ठता, तत्त्वज्ञता, बुद्धिमत्ता, वाग्मिता, शास्त्रज्ञता, समस्तभाषाभिज्ञता, प्रियवादिता, मनस्विता, दक्षता, सर्वचित्ताकर्षक, मधुरभाषिता, शरणागतसंरक्षण, साधुपरित्राण, भक्त-सौहार्द, न्याय, दृढव्रत, पाण्डित्य, प्रतिभा, परम आनन्द, परम गति, सर्वसिद्धि, समृद्धि, सर्ववशित्व, असाधारण अद्भुत शोभा, सर्वाकर्षणत्व और अद्भुत चमत्कार आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। इनके अतिरिक्त भागवतमें भी सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा आदि बहुत-से गुणोंका वर्णन आता है। पृथ्वीने धर्मके प्रति कहा है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥
एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भा० १।१६।२६–२९)

'भगवन्! उन परमेश्वरमें सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति,

शास्त्र-विचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, पराक्रम, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, मनोबल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहङ्कारिता—ये उन्तालीस अप्राकृत गुण तथा बड़े-बड़े महत्त्वाकाङ्क्षी पुरुषोंद्वारा वाञ्छनीय और भी बहुत-से महान् गुण उनकी सेवा करनेके लिये नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, वे एक क्षणके लिये भी उनसे अलग नहीं होते।'

शास्त्रोंमें भगवान्‌के और भी अनेक गुण बतलाये गये हैं; किंतु अनन्त गुण होनेके कारण उन सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है। ये सब अप्राकृत गुण भगवान्‌में अतिशय और पूर्णरूपसे हैं। सारे संसारके प्राणिमात्रके हृदयमें वर्तमान दया और प्रेमको एकत्र किया जाय तब भी उस अनन्त अपार दया और प्रेमके समुद्रकी एक बूँदसे भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डके समस्त गुण-समूह मिलकर भी उन गुण-सागरके एक बूँदकी भी समता नहीं कर सकते; क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड परमात्माके संकल्पके किसी एक अंशमें स्थित हैं। उन दिव्य चिन्मय परमात्माका निर्गुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-निराकारके रूपमें परिणत होता है, अतः ये सब गुण दिव्य और चिन्मय हैं। इन दिव्य चिन्मय गुणोंके एक अंशका प्रतिबिम्ब ही सारे ब्रह्माण्डमें अनन्त गुणोंके रूपमें भासित हो रहा है। इसीलिये संसारके समस्त गुण परमात्माके गुणोंके एक बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकते।

उस सगुण-साकार स्वरूपके दो भेद हैं—एक तो माया-विशिष्ट और दूसरा मायातीत। जो मायातीत रूप है, उसमें सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंका अत्यन्त अभाव है, अतः उन परमात्माके गुण, स्वरूप, प्रभाव आदि सभी चिन्मय हैं; किंतु जो संसारमें अवतार लेनेपर सबके दृष्टिगोचर होता है, वह भगवान्‌का मायाविशिष्ट रूप है*। असली मायातीत रूप सबको नहीं दीखता; क्योंकि सभी उसके अधिकारी न होनेके कारण भगवान् अपने ऊपर मायाका पर्दा डाले हुए रहते हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७।२५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु जो भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला भक्त है, उसे

---

* गीतामें भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

वे अपना पर्दा हटाकर वास्तविक मायातीत रूप दिखला देते हैं, जिसका दर्शन पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

वास्तवमें वे परमात्मा ईश्वरोंके भी ईश्वर, अज और अविनाशी हैं, उनका जन्म और विनाश नहीं होता, वे तो संसारके हितके लिये प्रकट और अन्तर्धान होते हैं या यों कहिये कि उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जो मनुष्य उन परमात्माके जन्मकी उपर्युक्त दिव्यता और अलौकिकताको तत्त्वतः जान लेता है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ४ । ९)।

भगवान्‌का प्रभाव भी अतिशय अप्रमेय और अलौकिक है। भगवान्‌में सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, पराक्रम, प्रताप, सामर्थ्य, विभूति, महिमा, कान्ति, सर्वज्ञता, सर्वकारणता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्वनियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता आदि अनन्त असीम और विलक्षण प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानके प्रभावसे समस्त दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद आदि सभी विकारोंका और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्‌गुण-सदाचारसम्पन्न होकर जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परमात्मा स्वयं असीम, अप्रमेय और चिन्मय होनेके कारण उनका प्रभाव भी चिन्मय, असीम और अप्रमेय है। जिनके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अनायास ही होते रहते हैं, जिनके कृपाकटाक्षसे ही लखों-करोड़ों प्राणियोंका क्षणमें उद्धार हो सकता है, जो असम्भवको सम्भव और

सम्भवको असम्भव करनेमें समर्थ हैं, जो जडको चेतन और चेतनको जड बना सकते हैं और जो मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छर बना देनेमें समर्थ हैं, उन अचिन्त्य अनन्त प्रभावशाली परमात्माके प्रभावका वर्णन पूर्णतया करना सम्भव नहीं। समस्त ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ भी विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि प्रभावशाली तेजस्वी पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका ही आभासमात्र हैं; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्‌के संकल्पके एक अंशमें स्थित हैं।* उन भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, वह उसी क्षण उनको प्राप्त हो जाता है।

अतएव भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये गुण-प्रभाव-सहित उनके स्वरूपका निष्कामभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर ध्यान करना चाहिये।



---

* गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०। ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है! मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

भगवान्‌के स्वभावका रहस्य

हमलोगोंको जो यह मनुष्य-शरीर मिला है, वह भगवान्‌की कृपासे ही मिला है, अपनी करनीसे नहीं। भगवान्‌ने यह कितना सुहृदतापूर्ण नियम बनाया है कि चौरासी लाख योनियोंको भोगनेके बाद तो जीवको आत्माके उद्धारके लिये मनुष्य-शरीर देते ही हैं, चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो। यह अविनाशी जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते हैरान हो जाता है, तब दयामय भगवान् इसपर दया करके मनुष्य-शरीर देते ही हैं।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४३। २-३)

खयाल करना चाहिये, यह भगवान्‌का हेतुरहित दया और प्रेमपूर्ण सुहृदतासे भरा हुआ कितना उच्चकोटिका स्वभाव है। इस सुहृदतापूर्ण स्वभावको यथार्थ जाननेसे मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५। २९का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थ-रहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

भाव यह कि भगवान् तो सदा-सर्वदा सब प्रकारसे पूर्णकाम हैं, फिर भी परम दयालुस्वभाव होनेके कारण वे बिना किसी हेतुके स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबका हित ही करते रहते हैं और समय-समयपर अवतार लेकर नाना प्रकारकी ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिनको सुनकर ही लोग भगवान्के परायण हो तर जाते हैं। भागवतमें बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

(१०।३३।३७)

'भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जाय।'

उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्का हित भरा रहता है। वे जीवोंके लिये जो भी विधान करते हैं, वह दया और प्रेमसे पूर्ण होता है। जो मनुष्य इस रहस्यको पूर्णतया जानकर यह विश्वास कर लेता है कि भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे हितके लिये ही करते हैं, वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको परम दयालु भगवान्का प्रेम और दयासे ओतप्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न और संतुष्ट रहता है, इससे उसे परम आनन्द और परम शान्ति मिल जाती है।

वे सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणगणोंके सागर, परम दयालु, परम प्रेमी भगवान् अपनेको

जीवोंका सुहृद् बतला रहे हैं । जब मनुष्य उनके इस कथनपर विश्वास करके उनको अपना सुहृद् मान लेता है, तब उसे कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति होती है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है । वास्तवमें भगवान्‌के समान भगवान् ही हैं । उनके समान तो संसारमें हेतुरहित दयालु, प्रेमी, निष्कामभावसे परम हित करनेवाला कोई है ही नहीं ।

उमा राम सम हित जग माहीं । गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ।

(रा० च० मा०, किष्किन्धा० ११ । १)

माता-पिता, बन्धु-बान्धव—सभी अपने स्वार्थके लिये ही प्रेम करते हैं, स्वार्थको छोड़कर कोई नहीं । बृहदारण्यक उपनिषद्‌में श्रीयाज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीसे कहा है कि पति, स्त्री, पुत्र, धन आदि सब अपने प्रयोजनके लिये ही प्रिय होते हैं ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।

(बृ० उ० २ । ४ । ५)

'अरी मैत्रैयि ! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते; पर अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं ।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥

(रा० च० मा०, किष्किन्धा० ११ । १)

स्वारथ मीत सकल जग माहीं । सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ४६ । ३)

किंतु भगवान् जीवोंसे बिना किसी प्रयोजनके ही प्रेम करते हैं, उनका कितना उच्चकोटिका निःस्वार्थ प्रेमपूर्ण सुहृद् स्वभाव है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं। चाहे कोई कैसा ही पापी क्यों न हो, अनन्यभावसे भगवान्‌की शरणमें आनेके साथ ही भगवान् उसे शुद्ध बनाकर उसका उद्धार कर देते हैं।

रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

(रा० च० मा०, सुन्दर० ४३। १, ४)

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(रा० च० मा०, उत्तर० ८५। ४,५)

क्योंकि—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(रा० च० मा०, बाल० २८। ३)

भगवान्‌के चित्तमें भक्तकी भूल-चूक याद नहीं रहती और वे उसके हृदयके सद्भावोंको ही सैकड़ों बार याद करते रहते हैं।

इतना ही नहीं, जो सच्चे हृदयसे 'मैं आपका हूँ' यों वाणीके द्वारा भी एक बार भी कह देता है, उसको भगवान् सदाके लिये निर्भय कर देते हैं। भगवान्‌ने स्वयं यह घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८। ३३)

'जो मनुष्य 'मैं आपका हूँ' इस भावसे भावित होकर केवल एक बार अपनेको सब प्रकारसे मेरे अर्पण कर देता है—भलीभाँति मुझे सौंप देता है, उस सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवाले भक्तको अपनाकर मैं सब प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत (नियम) है ।'

भगवान्‌का कितना उत्तम स्वभाव है । वे भक्तके प्रेमकी ओर ही देखते हैं, जाति-पाँति, धन, विद्या, बुद्धि, बल आदिकी ओर नहीं देखते ।

भक्त प्रह्लादने भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । ९)

'मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये कोई भी परम पुरुष भगवान्‌को संतुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं; परंतु भक्तिसे तो भगवान् गजेन्द्रपर भी संतुष्ट हो गये थे ।'

क्योंकि भगवान् तो केवल भक्तके अनन्य विशुद्ध प्रेमकी ओर देखते हैं। अनन्य प्रेमी जितना भगवान्‌को प्यारा होता है, उतना कोई भी प्यारा नहीं होता ।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(७ । १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला (निष्कामी) ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

श्रीबृहस्पतिजीने इन्द्रसे कहा है—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा ॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २१८ । १)

भगवान् श्रीराम स्वयं काकभुशुण्डिजीसे कहते हैं—

सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय ।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥
(रा० च० मा०, उत्तर० ८७ (ख)

इसलिये हमलोगोंको अन्य सबका आशा-भरोसा छोड़कर निष्कामभावसे भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनी चाहिये ।

श्रीभरतजी भगवान्‌के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले परम भगवद्भक्त थे । उनका भगवान्‌में बहुत ही उच्चकोटिका भाव था । श्रीतुलसीदासजीने उनके उत्तम भावोंका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है, जिनमें भगवान्‌के स्वभावका दिग्दर्शन होता है ।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० १८२ । ३)

राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० १९९। ३-४)

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २३३। ३)

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेह बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २५९। ३-४)

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २९८। १-४)

जब भगवान् श्रीरामके वनसे अयोध्या लौटनेकी अवधिमें केवल एक ही दिन शेष रह गया, तब तो भरतजी भगवान्के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और भगवान्के मधुर स्वभावको स्मरण करके कहने लगते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
(रा० च० मा०, उत्तर० प्रारम्भकी चौं० ३)

भरतजीके कथनका भाव यह है कि भगवान् दीन और दुखियोंके बन्धु हैं, उनका स्वभाव बहुत ही कोमल है, इस कारण वे अपने भक्तोंके दोषोंकी ओर देख ही नहीं सकते।

अतएव हमलोगोंको भी अपना भाव भरतजीके समान बनाना चाहिये। फिर हमारे कल्याणमें कोई संदेह नहीं; क्योंकि भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् हैं, इस तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला मनुष्य भी सारे प्राणियोंका सुहृद् बनकर भगवान्‌का परम भक्त बन जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(१२। १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों-सहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

भगवान्‌के स्वभावका तत्त्व और रहस्य समझनेपर मनुष्य भगवान्‌का ही हो जाता है एवं भगवान् उसे अपना यथार्थ तत्त्व जना देते हैं। रामचरितमानसमें श्रीवाल्मीकिजीके वचन हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

(रा० च० मा०, अयोध्या० १२६। २)

वही पुरुष भगवान्‌को यथार्थ तत्त्वसे जान सकता है, जिसको भगवान् जानते हैं तथा जिसके एकमात्र भगवान् ही हैं, जो भगवान्‌पर ही निर्भर है, जो अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, शरीर सब कुछ भगवान्‌को समर्पण कर चुका है वही भगवान्‌को जाननेका पात्र होता है और उसीको भगवान् अपना यथार्थ स्वरूप जनाते हैं।

गीतामें भी बतलाया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌के समान संसारमें कोई प्रभावशाली या गुणी नहीं है। उनके मुकाबलेमें यह जीव तुच्छ है। इसपर भी मनुष्य भगवान्‌को जिस भावसे, जिस प्रकारसे भजते हैं, भगवान् उन्हें उसी भावसे, उसी प्रकारसे भजते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११का पूर्वार्ध)

अभिप्राय यह है कि वात्सल्य, दास्य, सख्य, माधुर्य आदि जिस किसी भावसे जो भगवान्‌को भजता है, उसे भगवान् उसी भावसे भजते हैं। जैसे, रुक्मिणी आदि पटरानियाँ भगवान् श्रीकृष्णको कान्ता-भावसे युक्त स्वकीय माधुर्यभावसे भजती थीं, उनके लिये भगवान् परमपति होकर उनके भावकी पूर्ति करते थे। जो गोपियाँ भगवान्‌को सख्यभावसे युक्त परकीय माधुर्यभावसे भजती थीं, उनके लिये भगवान् वैसे ही सख्यभावसे युक्त प्रेमास्पद बनकर रहते थे। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि वात्सल्यभावसे भजते थे, उनके लिये भगवान् पुत्ररूप होकर रहते थे। अक्रूर आदि भक्त दास्य-भावसे भजते थे, उनके लिये भगवान् स्वामी होकर रहते थे। श्रीदामा आदि गोपबालक सख्यभावसे भजते थे, अतः उनके लिये उनके सखा होकर रहते थे। अर्जुन आदि दास्य और सख्य—दोनों भावसे भजते थे, इसलिये भगवान् उनके लिये उनके स्वामी और सखा होकर रहते थे।

इसी तरह जो जिस प्रकारसे भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको उसी प्रकार भजते हैं। जैसे, शरशय्यापर शयन करते हुए

भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं तो भगवान् भी भीष्मजीका ध्यान करते हैं।

महाराज युधिष्ठिरसे भगवान् स्वयं कहते हैं—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥
(महा० शान्ति० ४६। ११)

'राजन्! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है।'

इतना ही नहीं, जो प्रेमसे भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् उनको अपने हृदयमें बसा लेते हैं और भगवान् उनके हृदयमें बस जाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

ऐसा ही भाव भागवतमें भी मिलता है—

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।

तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥
(१० । ३८ । २२)

'न तो भगवान्‌के कोई प्रिय है और न अप्रिय। न उनका कोई अति सुहृद् है और न कोई शत्रु। उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है। फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आकर याचना करनेवालोंको उनकी मुँहमाँगी वस्तु देता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी, जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, उसे उसी रूपमें भजते हैं—वे अपने प्रेमी भक्तोंसे अतिशय प्रेम करते हैं।'

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी ॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुखु दारुन दाहू ॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २४३ । १-२)

रामचरितमानसमें भरतजीके वचन हैं—

यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई ॥
जगु अनभल भल एकु गुसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं ॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥

जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच ॥
(रा० च० मा०, अयोध्या० २६६ । ३-४, २६७)

खयाल करना चाहिये, भगवान्‌का कैसा उच्चकोटिका स्वभाव है। उनके-जैसा परम दयालु कोई नहीं है।

श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही॥
(रा० च० मा०, उत्तर० १२२। २)

सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥
(रा० च० मा०, उत्तर० १२३। २)

श्रीउद्धवजीने कहा है—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवान्‌ने वह परम गति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें!'

जो मनुष्य परम दयालु भगवान्‌के स्वभावके तत्त्व-रहस्यको जान जाता है, उसे भगवान्‌के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अतः वह भगवान्‌को छोड़कर नाशवान्, क्षणभङ्गुर और दुःखरूप धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदिको कैसे भज सकता है?

भगवान् शिवजी कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥
(रा० च० मा०, सुन्दर० ३३।२)

फिर वह भगवान्‌को कभी नहीं भूलता और भगवान् भी उसको कभी नहीं भूलते।

गीतामें बतलाया गया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

सार यह है कि भगवान्‌का बड़ा ही कोमल, मृदुल, सरल, सरस, मधुर और मनोहर स्वभाव है। वास्तवमें उनके समान वे ही हैं। उनके समान अहैतुक दयालु, निःस्वार्थ प्रेमी, सुहृद्, शरणागत-वत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन दूसरा कोई नहीं है।

अतः हमलोगोंको भगवान्‌के परम दया और प्रेममय मधुर स्वभावको समझकर उसका नित्य-निरन्तर, स्मरण-मनन करते हुए उनके प्रेममें मुग्ध रहना चाहिये। इससे अनायास और शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है।



भगवन्नामजपका प्रभाव

इस मनुष्य-जन्मकी सार्थकता भगवान्‌की प्राप्तिमें ही है। भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है—यह बात गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीशिवजीके वचन हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(बाल० १८४।३)

श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥
(३।३२।२३)

'भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरंत ही संसारसे वैराग्य और ब्रह्म-साक्षात्काररूप यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है।'

यही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी भक्त उद्धवसे कहा है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। २०-२१)

'उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग—मुझे प्राप्त करनेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति। मैं सत्पुरुषोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं एकमात्र अनन्य श्रद्धा-भक्तिसे ही प्राप्त होता हूँ। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

इस प्रकार प्रेमसे ही भगवान्‌की प्राप्ति बतलायी गयी है। वह प्रेम प्राप्त होता है सत्सङ्गसे।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(रा० च० मा०, उत्तर० ६१)

तथा जैसे विषयोंका चिन्तन करनेसे विषयोंमें प्रेम हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌का चिन्तन करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जानेपर भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन और भगवान्‌के नामका जप अपने-आप ही होता रहता है। फिर वह भगवान्‌को भूल ही नहीं सकता। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य प्रेम था; अतः वे भगवान्‌को कभी नहीं भूलती थीं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(१० । ४४ । १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं ।'

जिस प्रकार भगवच्चिन्तनसे भगवत्प्रेम प्राप्त होता है, वैसे ही केवल भगवन्नामजपसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है । श्रीतुलसी-दासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥
(रा० च० मा०, बाल० २० । ३)

श्रीतुलसीदासजीने तो भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के नामकी महिमा गायी है—

राम भगत हित नर तनु धारी । सहि संकट किए साधु सुखारी ॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥
राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
भंजेउ राम आपु भव चापू । भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥

दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥
(रा० च० मा०, बाल० २३। ३–४; २४)

श्रीतुलसीदासजीने अपने ग्रन्थोंमें 'राम' नामकी विशेष महिमा कही है। इसी प्रकार वेदोंमें और योगदर्शनमें 'ॐ'की, भागवत आदिमें 'कृष्ण'की, शिवपुराणमें 'शिव'की, विष्णुपुराणमें 'विष्णु', 'हरि' आदिकी, गीतामें 'ॐ', 'तत्', 'सत्' नामोंकी,* कुरान-शरीफमें 'अल्लाह', 'खुदा'की, बाइबिलमें 'गॉड'की, जैनग्रन्थोंमें 'अर्हन्त' और 'ॐ'की, आर्यसमाजके ग्रन्थोंमें 'ॐ'की विशेष महिमा कही गयी है। इसी तरह अन्यान्य सभी सम्प्रदायोंके महानुभावोंने अपने-अपने इष्टदेवके नामकी विशेष महिमा कही है। अतः समझना चाहिये कि राम, कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव, हरि, विष्णु, शिव, ॐ, तत्, सत्, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि परमात्माके जिस नाममें जिस मनुष्यकी रुचि, श्रद्धा, विश्वास हो, उसके लिये वही सबसे बढ़कर है। इसलिये उसको उसी नामका श्रद्धा, प्रेम और निष्काम भावसे तत्परतापूर्वक जप करना उचित है।

---

* ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
(गीता १७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है; उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके जो जप किया जाता है उसे 'वाचिक' जप कहते हैं, उससे वह उपांशु जप श्रेष्ठ है जो होठ और जीभसे दूसरोंको सुनायी न दे, ऐसे मन्दस्वरमें धीरे-धीरे उच्चारण करके किया जाता है; किंतु उससे भी बढ़कर मानसिक जप है।

श्रीमनुजीने तो यज्ञसे भी नामजपकी महिमा बहुत अधिक बतायी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनु० २। ८५)

'विधियज्ञ (अग्निहोत्र आदि) की अपेक्षा उच्चारण करके किया हुआ जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

गीतामें भगवान्‌ने 'यज्ञ' के नामसे बहुत-से साधन बताये हैं, उन साधनोंमें जपयज्ञको अपना स्वरूप यानी साध्य बतलाया है— 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १० । २५का तीसरा चरण) 'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ।'

जो नामजप मनसे—मन लगाकर किया जाता है वह मानसिक जप है। मानसिक जपके कई भेद हैं। जैसे—

(१) जिसमें मनुष्यका विशेष प्रेम होता है वह वस्तु बिना याद किये भी अपने-आप याद आती है और उसको वह

भुलानेपर भी भूल नहीं सकता; इसी प्रकार बलात् भगवान्‌के नामकी स्मृति निरन्तर होना—यह सबसे बढ़कर मानसिक जप है।

(२) जिस प्रकार मनमें भगवान्‌के स्वरूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, लीला आदिकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवन्नामकी मनमें बार-बार स्मृति होना—यह भी मानसिक जप है।

(३) दीवालपर लिखे हुए अक्षरोंकी भाँति भगवान्‌के ललाटपर भगवान्‌का नाम लिखा हुआ है ऐसा मानकर मनसे ही उसे बार-बार पढ़ना—यह भी मानसिक जप है।

(४) हृदय, कण्ठ, भृकुटी आदि स्थानोंमें नाड़ीकी चालके साथ नाम-जपकी भावना करनेसे उसके द्वारा नाम-जप होता हुआ प्रतीत होता है, उसका मनसे बार-बार अनुभव करना—यह भी मानसिक जप है।

(५) रात्रिमें सोनेके समय स्वाभाविक ही कानोंमें एक प्रकारका शब्द सुनायी देता रहता है, उसमें राम, शिव, ॐ आदि अल्पाक्षरोंके भगवन्नामकी भावना करनेसे वह नाम स्वतः ही सुनायी देता है, इसका दृढ़ अभ्यास हो जानेपर चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते भी मनसे उस नामका सुनायी देना—यह भी एक प्रकारका मानसिक जप ही है।

इसके सिवा, जीभ और होठ बंद करके श्वास-प्रश्वासके द्वारा (श्वासके आने-जानेके साथ) जो नामजपका अभ्यास किया जाता है, उसमें अभ्यास हो जानेपर नामका उच्चारण कण्ठसे स्वाभाविक होता रहता है। यह श्वासद्वारा होनेवाला जप उपांशुसे भी श्रेष्ठ

है; क्योंकि यह मरणकालपर्यन्त वाणी और नाड़ीकी गति बंद होनेपर भी हो सकता है। किंतु यदि इसके साथ मनको लगा दिया जाय तब तो यह भी मानसिक जपकी गणनामें शामिल हो जाता है।

भगवन्नामजपके साथ उस नामका अर्थ जो नामी—भगवान् हैं, उनका स्मरण रखनेसे वह जप बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारक हो जाता है। योगदर्शनमें बताया गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः। (१। २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१। २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (१। २९)

'उक्त साधनसे विघ्नोंका अभाव और परमात्माके स्वरूपकी भी प्राप्ति हो जाती है।'

गीतामें भगवान् भी कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
(८। १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता

हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

किंतु नामजप यदि परम श्रद्धा-प्रेमपूर्वक किया जाय तो उसकी महिमा तो कोई गा ही नहीं सकता; क्योंकि श्रद्धा-प्रेम होनेसे तो जप निरन्तर अपने-आप ही होने लगता है। फिर यदि किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर निःस्वार्थ-भावसे केवल कर्तव्य समझकर नामजप किया जाय तो उसके तुल्य तो कोई भी साधन नहीं है। इस प्रकार नाम-जप करनेवाले साधकको तो तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। उच्च कोटिका विशुद्ध प्रेम निष्कामभाव होनेपर ही होता है। उसीको अनन्य विशुद्ध परम प्रेम कहते हैं, जिसके प्राप्त होनेपर भगवत्साक्षात्कार होनेमें क्षण-भरका भी विलम्ब नहीं हो सकता।

किंतु याद रखना चाहिये कि उस सच्चे प्रेममें दिखाऊपन कभी नहीं रहता। सच्चा प्रेमी 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा कहता-कहलाता नहीं, बल्कि स्वयं वैसा बनता है। जो मनुष्य संसारमें 'मैं प्रेमी हूँ' ऐसा प्रचार करता है, वह सच्चा विशुद्ध प्रेमी नहीं है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और कञ्चन-कामिनी, भोग-आरामका इच्छुक पुरुष ही लोकदिखाऊ प्रेम किया करता है। परंतु प्रेम न करनेसे तो ऐसा सकाम प्रेम करना भी अच्छा है, क्योंकि कभी आगे जाकर वही प्रेम सकामसे निष्काम हो सकता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि निष्काम और अनन्य प्रेम होनेपर ही भगवान् अपना दर्शन देनेके लिये विशेष बाध्य होते हैं (गीता ११। ५४)।

यदि भगवान् निष्काम प्रेम न होनेपर भी अनन्य भक्तिसे दर्शन दे दें तो यह उनकी विशेष उदारता है।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् स्वयं निष्काम भजन करनेवाले भक्तकी विशेषता बतलाते हैं—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥
(अरण्य० १६)

जो नामोच्चारण अकेले या बहुत व्यक्ति मिलकर बाजेके साथ या बिना बाजेके उच्चस्वरसे सामूहिक रूपमें किया जाता है, उसे 'कीर्तन' कहते हैं। उस नाम-कीर्तनकी महिमा भी अपार है। किंतु उसमें भी प्रधानता श्रद्धा-प्रेमकी ही है। जितना ही अधिक श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभाव होता है, उतना ही वह अतिरिक्त मूल्यवान् है। श्रीनारदजी, श्रीतुलसीदासजी, श्रीसूरदासजी, श्री-नरसिंह मेहता, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु एवं मीराँबाई आदि बहुत-से भक्त कीर्तन-प्रेमी माने जाते हैं।

किंतु श्रीमद्भागवतमें तो यहाँतक बतलाया गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(६।२।१८)

'जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है, उसी प्रकार पवित्रकीर्ति श्रीहरिके नामका संकीर्तन जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है।'

श्रीशुक्राचार्यजीने भगवान्‌से कहा है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥
(श्रीमद्भा० ८। २३। १६)

'प्रभो! मन्त्रोंकी अनुष्ठानपद्धतिकी, देश, काल, पात्र और वस्तुकी सारी भूलें आपके नाम-संकीर्तनसे सुधर जाती हैं। आपका नाम सारी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है।'

यही नहीं; भगवन्नाम-जपका बड़ा भारी प्रभाव है। नामजपके प्रभावसे तो स्वयं भगवान् ही उस जापकके वशमें हो जाते हैं—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
(रा० च० मा० बाल० २५। ३)

भक्त हनुमान्‌जीकी भगवान्‌के नाममें परम निष्ठा थी। अध्यात्म-रामायणमें समुद्रोल्लङ्घनके समय वे कहते हैं—

प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन्॥
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम्।
(सुन्दर० १। ४-५)

'प्राण निकलते समय जिन भगवान्‌के नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसारसागरसे तरकर उनके परमधामको चला जाता है।'

राज्याभिषेकके पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीकी भक्तिसे प्रसन्न हो उन्हें वर माँगनेको कहते हैं तब श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त हर्षित हो यही वर माँगते हैं—

त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम।
अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले॥
(अध्यात्म० युद्ध० १६। १२-१३)

'हे रामजी! आपका नाम-स्मरण करते हुए मेरा मन तृप्त नहीं होता है, इसलिये मैं सदा-सर्वदा आपका नाम-स्मरण करता हुआ ही इस पृथ्वीपर स्थित रहूँ।'

भगवान् श्रीरामने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें वर दिया। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥
(१२। ३। ४४)

'मनुष्य मरते समय, आतुर-अवस्थामें, गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्के नामका उच्चारण कर ले तो वह सारे कर्मबन्धनोंसे छूटकर उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है। ऐसा होनेपर भी घोर कलियुगमें मनुष्य उन भगवान्की उपासना तत्परतासे नहीं करते हैं।'

इतना ही नहीं, मनुष्य कैसा भी पापी क्यों न हो, नाम-जपके प्रभावसे उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और उसका कल्याण हो जाता है।

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
(रा० च० मा०, बाल० २५।४; २६।१, २)

किसी कविने भी कहा है—

जबहिं नाम हिरदै धरयो भयो पापको नास।
मानो चिनगी आगकी परी पुराने घास॥

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९।३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के पार्षदोंके वचन हैं—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥
(६।२।१०)

'सभी पापियोंके लिये इतना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण किया जाय; क्योंकि भगवन्नामोंके उच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌के गुण, लीला और स्वरूपमें रम जाती है और स्वयं भगवान्‌की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है।'

श्रीशुकदेवजी परीक्षित्‌से कहते हैं—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥
(श्रीमद्भा० ६। २। ४९)

'अजामिल-जैसे पापीने मरते समय पुत्रके निमित्तसे भगवान्‌के नामका उच्चारण किया था, किंतु उसे भी परम धामकी प्राप्ति हो गयी; फिर जो लोग श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है।'

श्रीसूतजीने कहा है—

पतितः स्खलितश्चार्त्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥
(श्रीमद्भा० १२। १२। ४६)

'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः', वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

श्रीनारदपुराणमें श्रीसनकजी नारदजीके प्रति कहते हैं—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः॥
(पूर्व० ४१। ९९-१००)

'जो लोग प्रतिदिन हरे ! केशव ! गोविन्द ! वासुदेव ! जगन्मय ! इत्यादि भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता।'

और भी कहते हैं—

अहो चित्रमहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विज।
हरिनाम्नि स्थिते लोकः संसारे परिवर्तते॥
(नारद० पूर्व० ३४। ४८)

'ब्रह्मन् ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है, बड़ी अद्भुत बात है और बड़ी विचित्र बात है कि भगवान् विष्णुके नामके रहते हुए भी लोग जन्म-मृत्युरूप संसारमें चक्कर काटते हैं।'

स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा।
चिन्तयेद्यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः॥
(नारद० पूर्व० ३९। ७)

'जो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे नित्य बारंबार नमस्कार है।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(नारद० पूर्व० ४१। ११५)

'भगवान् विष्णुका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन

है। कलियुगमें दूसरी कोई गति है ही नहीं, है ही नहीं, है ही नहीं।'

श्रुति भी कहती है—

> एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
> एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
> (कठ० १।२।१६)

'यह अक्षर (ॐ) ही तो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसलिये इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह नामकी भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है। यहाँ तो कुछ साधारण दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतः नामकी महिमा कोई गा ही नहीं सकता, क्योंकि गाना तो वाणीसे ही होता है; किंतु वाणी परिमित है और भगवन्नामकी महिमा अपरिमित है। अतः उसकी महिमा मनुष्य कहाँतक गा सकता है। यह कथन भी कोई अनुचित नहीं कि भगवान्‌के नामकी महिमा भगवान् भी नहीं गा सकते—

> कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥
> (रा० च० मा०, बाल० २५।४)

इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌में परम प्रेम होनेके लिये अनन्य विशुद्ध श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मनसे हर समय भगवान्‌के नामका जप करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

भगवत्प्राप्तिका सरल उपाय—अनन्य शरणागति

एकमात्र भगवान्‌के ही सब प्रकारसे शरण हो जाना—यह सभी मनुष्योंके लिये परमात्माकी प्राप्तिका बहुत ही सुगम उपाय है; किंतु जो मनुष्य ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग आदि साधनोंको करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिये तो एकमात्र भगवान्‌की ही शरण ग्रहण कर लेना सब प्रकारसे लाभदायक है; क्योंकि भगवान् परम प्रेमी, परम सुहृद् और बिना ही कारण दया करनेवाले हैं। वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करते। श्रीभरतजी कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा०, उत्तर० प्रारम्भकी चौ० ३)

अतः जो मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है उसे भगवान् सबसे अभय कर देते हैं। स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८। ३३)

'जो मनुष्य 'मैं आपका हूँ' इस भावसे भावित होकर केवल एक बार अपनेको सब ओरसे मेरे अर्पण कर देता है—भलीभाँति मुझे सौंप देता है, उस सच्चे भावसे प्रार्थना करनेवाले भक्तको अपनाकर मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे सदाके लिये निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा 'प्रण' है।'

चाहे कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, उसका भी भगवान् त्याग नहीं करते । रामचरितमानसमें भगवान्‌के वाक्य हैं—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥

(सुन्दर० ४३ । १)

इसलिये जो सब साधनोंसे हीन है उस मनुष्यके कल्याणके लिये तो भगवान्‌की शरणमें जाना ही सुगम और सरल उपाय है । भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

(९ । ३२)

'अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डाल आदि जो कोई भी हों वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

चाहे वह नीची-से-नीची जातिका क्यों न हो, भगवान्‌की शरण (भक्ति) से परमपदको प्राप्त हो जाता है । भगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २१)

'उद्धव ! मैं संतोंका परम प्रिय 'आत्मा' हूँ । मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ । मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं ।'

इसी प्रकार जो शुभ आचरणसे भी हीन है, वह भी शीघ्र ही धर्मात्मा होकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९।३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९।३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता।'

फिर जिनकी उत्तम जाति और उत्तम आचरण हो उनका उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसलिये मनुष्यको उन हेतुरहित प्रेम करनेवाले और परम दयालु एकमात्र भगवान्‌के ही सब प्रकारसे शरण होना चाहिये। सब प्रकारसे शरण होनेका स्वरूप गीतामें यों मिलता है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९।३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने शरणके चार प्रकार बतलाये हैं। इनको समझना चाहिये। हमारे पास ये चार ही प्रधान साधन हैं—मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर। 'मन्मना भव' से मनको भगवान्‌में लगानेके लिये कहा गया है, जैसे व्रजकी गोपियाँ निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करती रहती थीं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(१०।४४।१५)

'जिनका चित्त निरन्तर भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ है, जिनकी बुद्धि भगवान्‌में ही अनुरक्त है, जिनका कण्ठ प्रेमाश्रुओंके कारण गद्गद हो रहा है और जो दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—सारे काम करते समय भगवान्‌के ही गुणोंका गान करती रहती हैं, वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं।'

इस प्रकार मनको भगवान्‌में लगा देना मनसे भगवान्‌के शरण होना है।

'मद्भक्तो भव' से प्रधान रूपसे बुद्धिको भगवान्में-लगानेके लिये कहा गया है। 'भगवान् ही मेरे परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी और हितैषी हैं, उनके समान और कोई नहीं है। शरण लेने योग्य, आत्मीयताके योग्य, प्रेम करने योग्य एक भगवान् ही हैं।' यों बुद्धिसे भगवान्के गुण-प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझकर एकमात्र भगवान्में ही अपनता करना एवं भगवान्में ही अनन्य और विशुद्ध प्रेम करना चाहिये, जैसे भक्तशिरोमणि प्रह्लादका भगवान्में अनन्य और विशुद्ध प्रेम था। भगवान्में अनन्य प्रेम होना ही असली भक्ति है। शाण्डिल्यभक्तिसूत्रमें बतलाया गया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (सूत्र २) ईश्वरमें परम अनुराग (प्रेम) होना ही भक्ति है।

इस प्रकार बुद्धिको भगवान्में लगा देना बुद्धिसे भगवान्के शरण होना है।

'मद्याजी भव' से भगवान्ने यह भाव दर्शाया है कि सम्पूर्ण यज्ञ, तप आदि कर्मोंका मैं ही भोक्ता हूँ—'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' (गीता ५। २९), मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ—'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' (गीता १०। २०)और मैं ही सबमें व्यापक हूँ—'मया ततमिदं सर्वम्' (गीता ९। ४)—ऐसा समझकर मेरी पूजा करनी चाहिये। आगे भगवान्ने पूजाका प्रकार स्वयं बतला दिया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

यहाँ पूजासे तात्पर्य है सब प्राणियोंमें भगवान्‌को समझकर भगवद्भावसे विनय और प्रेमपूर्वक सबके हितके लिये अपनी इन्द्रियोंसे सबको आदर-सत्कार-मान देते हुए स्वयं अभिमान और स्वार्थभावसे रहित हो सेवाद्वारा सबको सुख पहुँचाना। यही भगवान्‌की व्यापक पूजा है। इसमें प्रधान रूपसे सारी इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगाना है। इसलिये यहाँ 'मद्याजी भव' का अभिप्राय इन्द्रियोंसे भगवान्‌के शरण होना है।

'मां नमस्कुरु' से अपने शरीरको भगवान्‌के अर्पण करना बतलाया गया है। भाव यह कि एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाय। अपने मनके अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी भगवान् करें यानी अनिच्छा (दैवेच्छा) या परेच्छासे जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थिति प्राप्त हो, उसको भगवान्‌का विधान (आज्ञा) या पुरस्कार समझकर प्रसन्न हो एवं भगवान्‌के उस विधानमें पद-पदपर दयाका दर्शन करता रहे। अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शास्त्र और सिद्धान्तके अनुकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिमें भगवान्‌की दयाका दर्शन होकर शान्ति मिलना तो स्वाभाविक है ही, पर जिसे प्रतिकूलतामें भी भगवान्‌की दयाका दर्शन होता रहता है, वही भगवान्‌की दयाके तत्त्व-रहस्यको यथार्थ रूपसे समझता है। अनुकूलतामें जो प्रसन्नता—शान्ति रहती है वह

तो सभीको रहती है, किंतु वह राजसी है। प्रतिकूलताको भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक समझकर जो शान्ति रहती है, वही सात्त्विक शान्ति है। मनके प्रतिकूल बीमारी प्राप्त होनेपर या स्त्री, पुत्र, धन आदिका विनाश होनेपर यह भाव होना चाहिये कि यह घटना देखनेमें तो दुःखदायी है; किंतु भगवान्‌ने यह मेरे हितके लिये ही किया है। इससे कई लाभ हैं। दुःख भोगनेसे पापोंका नाश होता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होता है। विपत्तिके समय मनुष्यको भगवान्‌की स्मृति होती है। दुःख पापका फल है—ऐसा समझनेसे पुनः पापकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। दुःख सहनेसे तितिक्षा बढ़ती है। इस प्रकार समझनेपर जो शान्ति मिलती है वह भी सात्त्विक शान्ति ही है। किंतु जो परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्ति है अथवा तीनों गुणोंसे अतीत जो परम शान्ति है, वह इनसे भी विलक्षण है। जो इस तत्त्वको समझकर साधन करता है, वह किसी भी प्रकारकी अनुकूल या प्रतिकूल घटना, पदार्थ और परिस्थितिके प्राप्त होनेपर उसे भगवान्‌का विधान यानी भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहता है और शान्तिमें ही सदा-सर्वदा मग्न रहता है; वह परम शान्ति है। फिर उस मनुष्यका अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें समभाव रहता है और उसके चिन्ता, भय, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकारोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसे पद-पदपर प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दका सर्वत्र अनुभव होता रहता है।

वह भगवान्‌का भक्त अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरको

सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌के अर्पण कर चुका है, इसलिये उसके इस शरीरके द्वारा भी जो भी कुछ क्रिया होती है उसमें भी उसे भगवान्‌की दयाका ही अनुभव होता रहता है, क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है। इससे उसके द्वारा जो कुछ होता है वह भगवान्‌के संकेतके अनुसार ही होता है। भगवान्‌की जैसी इच्छा हो वैसे उससे कर्म करावें। वह उस क्रियासे होनेवाले फल—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय—सभीमें सम होकर रहता है। जिसने अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर दिया है, उस मनुष्यके द्वारा जो कुछ कर्म होता है वह शास्त्रके अनुकूल ही होता है, शास्त्रके विरुद्ध और व्यर्थ कर्म उसके द्वारा नहीं होता; क्योंकि उसकी सारी क्रिया भगवान्‌के द्वारा ही संचालित होती है। इसलिये उस मनुष्यकी सारी क्रिया भगवान्‌की लीलाके समान है। वह संसारके लिये भी बहुत लाभदायक होती है, क्योंकि वह आदर्श है। इसलिये दूसरे मनुष्य उसका अनुकरण करके ही मुक्त हो जाते हैं। ऐसे श्रेष्ठ महापुरुषके ही सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

निष्कर्ष यह समझना चाहिये कि उस मनुष्यको *अनिच्छा*

(दैवेच्छा) या परेच्छासे जो घटना, पदार्थ, परिस्थिति आदि प्राप्त होते हैं और स्वेच्छासे भी उसके शरीरद्वारा जितने कर्म होते हैं उन सबमें वह भगवान्‌की अनन्त अपार दयाका पद-पदमें दर्शन करता रहता है। वह सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान्‌के स्वरूपका और सम्पूर्ण क्रियाओंमें भगवान्‌की लीलाका अनुभव करके भगवान्‌की असीम दयाका दर्शन करता रहता है एवं सभी परिस्थितियोंमें निर्विकार, सम, संतुष्ट, प्रसन्न और शान्त रहता है।

इस प्रकार अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्‌में लगा देना ही भगवान्‌की अनन्य शरण है। भगवान्‌की अनन्य शरण कहें या अनन्य भक्ति—सिद्धान्तसे दोनों एक ही बात है। गीतामें जहाँ भगवान्‌ने शरणका वर्णन किया है वहाँ भक्तिको भी उसका एक प्रधान अङ्ग कहा है। जैसे, उपर्युक्त शरणागति-प्रतिपादक श्लोकमें 'मद्भक्तो भव' कहकर भक्तिका मुख्यरूपसे लक्ष्य कराया है। इसी प्रकार गीताके ग्यारहवें अध्यायके ५४-५५वें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका वर्णन किया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ; तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा प्रवेश अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और समस्त भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।'

यहाँ ५५वें श्लोकमें अनन्य भक्तिके स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये भक्तके लक्षणोंमें 'मत्परमः' कहकर शरणागतिको भक्तिका एक प्रधान अङ्ग बतला दिया है । इससे यह समझना चाहिये कि अनन्य शरण और अनन्य भक्ति वस्तुतः एक ही है ।

इस तरह जो मनुष्य भगवान्‌के अनन्य शरण हो जाता है, वह भगवद्भक्त सर्वथा और सर्वत्र निर्भय हो जाता है । उसे किसीका भी भय नहीं रहता । यमदूत आदि उसके निकट भी नहीं आ सकते । श्रीविष्णुपुराणमें श्रीभीष्मजीके वचन हैं—

किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः ।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा ॥

(अंश ३ अ० ७ श्लोक ३८)

'जिसका हृदय निरन्तर भगवान् केशवके परायण है उसका यम, यमदूत, यमपाश, यमदण्ड अथवा यमयातना कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ।'

इस प्रसंगमें पितामह भीष्मजीने महामना नकुलके प्रति, यमराजके द्वारा अपने दूतोंको दिये हुए आदेशका वर्णन करते हुए भक्तोंके लक्षण कुछ विस्तारसे बतलाये हैं, वे वहाँ पढ़कर मनन और धारण करने योग्य हैं । ऐसे भगवद्भक्त जहाँ प्राणत्याग कर रहे हों,

वहाँ यमराज और यमदूत—दोनोंका ही जानेका अधिकार नहीं है। श्रीभीष्मजी कहते हैं—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम् ॥

'अपने अनुचरको हाथमें पाश लिये देखकर यमराजने उसके कानमें कहा—'भगवान् मधुसूदनके शरणागत व्यक्तियोंको तुम छोड़ देना; क्योंकि जो विष्णुभक्त नहीं हैं ऐसे अन्य मनुष्योंका ही मैं स्वामी हूँ।'

हरिममरवरार्चिताङ्घ्रिपद्मं
प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्यः।
तमपगतसमस्तपापबन्धं
व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम् ॥

'जो भगवान्‌के सुरवरवन्दित चरणकमलोंको परमार्थबुद्धिसे प्रणाम करता है, समस्त पापबन्धनसे मुक्त हुए उस मनुष्यको तुम दूरसे ही उसी प्रकार छोड़कर निकल जाना, जिस प्रकार घृताहुतिसे प्रज्वलित प्रचण्ड अग्निको लोग छोड़कर निकल जाते हैं।'

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा
विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम्।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीवभक्तम् ॥

'जिस निर्मल-मतिका चित्त कलिकल्मषरूप मलसे मलिन नहीं हुआ और जिसने अपने हृदयमें सर्वदा भगवान् जनार्दनको बसा लिया है, उस मनुष्यको तुम भगवान्‌का अतीव भक्त समझो।'

कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या
तृणमिव यः समवैति वै परस्वम्।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः
पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥

'जो एकान्तमें पड़े हुए दूसरेके स्वर्णको देखकर भी उसे अपनी बुद्धिके द्वारा तृणके समान समझता है और निरन्तर भगवान्‌का अनन्यभावसे चिन्तन करता है, उस नरश्रेष्ठको तुम विष्णुका भक्त जानो।'

विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः
शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायो
वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः॥
वसति हृदि सनातने च तस्मिन्
भवति पुमाञ्जगतोऽस्य सौम्यरूपः।

'जो मनुष्य निर्मलबुद्धि, मात्सर्यरहित, प्रशान्त, शुद्धचरित्र, समस्त जीवोंका सुहृद्, प्रिय और हितकर वचन बोलनेवाला तथा अभिमान और माया (कपट) से रहित होता है, उसके हृदयमें भगवान् वासुदेव सदा विराजमान रहते हैं। एवं उन सनातन भगवान्‌के हृदयमें विराजित हो जानेपर मनुष्य इस जगत्‌के लिये सौम्यरूप (शान्तरूप) हो जाता है।'

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम् ।
अपगतमदमानमत्सराणां
त्यज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥

'हे दूत ! यम[1] और नियमके[2] द्वारा जिनकी पापराशि दूर हो गयी है, जिनका हृदय निरन्तर श्रीअच्युतमें ही आसक्त रहता है तथा जिनमें गर्व, अभिमान और मात्सर्यका लेश भी नहीं रहा है, उन मनुष्योंको तुम दूरसे ही त्याग देना ।'

हृदि यदि भगवाननादिरास्ते
हरिरसिशङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा ।
तदघमघविघातकर्तृभिन्नं
भवति कथं सति चान्धकारमर्के ॥

'यदि खड्ग, शङ्ख और गदा धारण करनेवाले अनादि अव्ययात्मा भगवान् हरि हृदयमें विराजमान हैं तो उन पापनाशक भगवान्के द्वारा उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । जहाँ सूर्य विद्यमान हैं, वहाँ भला अन्धकार कैसे ठहर सकता है ?'

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
(योगदर्शन २ । ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं ।'

२. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
(योगदर्शन २ । ३२)

'बाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरण—ये पाँच 'नियम' हैं ।'

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥

'यह समस्त जगत् और मैं एक परमपुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं, हृदयमें भगवान् अनन्तके स्थित होनेपर जिनकी ऐसी स्थिर-बुद्धि हो गयी है, उन्हें तुम दूरसे ही छोड़कर चले जाना ।'

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥

'हे कमलनयन ! हे वासुदेव ! हे विष्णो ! हे धरणिधर ! हे अच्युत ! हे शङ्खचक्रपाणे ! आप हमें शरण दीजिये । जो लोग इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पाप व्यक्तियोंको तुम दूरसे ही त्याग देना ।'

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा
पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते ।
तव गतिरथ वा ममास्ति चक्र-
प्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः ॥

'जिस पुरुषश्रेष्ठके अन्तःकरणमें वे अव्ययात्मा भगवान् विराज रहे हैं उसका जहाँतक दृष्टिपात होता है, वहाँतक भगवान्के चक्रके प्रभावसे अपने बल-वीर्य परास्त हो जानेके कारण तुम्हारी अथवा

मेरी गति नहीं है। वह महापुरुष तो अन्य वैकुण्ठादि लोकोंका अधिकारी है।'

(विष्णुपुराण अं० ३ अ० ७ श्लोक १४, १८, २१, २२, २४, २४॥, २६, २७, ३२, ३३, ३४)

यह है अनन्य विशुद्ध भगवद्भक्ति (शरणागति) का महान् प्रभाव! अतएव हमलोगोंको उपर्युक्त प्रकारसे अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर सबको एकमात्र भगवान्‌में ही लगाकर पद-पदपर उनकी अपार दयाका दर्शन करते हुए उनकी प्रसन्नतामें ही अत्यन्त प्रसन्न और परम संतुष्ट रहना चाहिये। इससे बहुत शीघ्र परम पदकी प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये योगीश्वर श्रीकविजीने कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ३६)

'मनुष्य अपने शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा परम्परागत स्वभावसे जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।' यह उनकी प्राप्तिका सरल-से-सरल उपाय है।

अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति

गीतामें भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ भक्तिका वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ भक्ति, भजन, प्रेमके वाचक शब्दोंका ही प्रयोग किया है। इस कारण भक्तिके मार्गमें प्रेमकी प्रधानता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यहाँ 'यथा' शब्द प्रकार अर्थमें है अर्थात् जो मेरा ध्यान करता है उसका मैं ध्यान करता हूँ। जैसे महाभारतमें वर्णन आता है कि राज्य पानेके पश्चात् राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णके पास गये और कृतज्ञता प्रकट करने लगे कि प्रभो! हमने आपकी कृपासे ही यह राज्य पाया है; किंतु भगवान्‌ने कोई उत्तर नहीं दिया; क्योंकि वे उस समय ध्यानमग्न थे। तब युधिष्ठिरने आश्चर्य करते हुए पूछा—'आप तो अमितपराक्रमी, समस्त जगत्‌के आश्रयदाता, पुरुषोत्तम हैं, आप किसका ध्यान कर रहे हैं?' इसपर भगवान्‌ने कहा—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः॥

(महा० शान्ति० ४६। ११)

'राजन् ! बाणशय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं, इसलिये मेरा मन भी उन्हींमें लगा हुआ है ।'

इससे समझना चाहिये कि भीष्मका भगवान्में कितना प्रेम था और भगवान्के स्वभावकी ओर भी ध्यान देना चाहिये कि उनकी कितनी सुहृदता है । भगवान् सबके सुहृद्—हेतुरहित दया और प्रेम करनेवाले हैं—इस प्रकार जाननेसे मनुष्यको शान्ति मिल जाती है । भगवान् कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५ । २९ का उत्तरार्ध)

'मेरा भक्त मुझको सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थ-रहित दयालु और प्रेमी—ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समान ही रहता है, किंतु दर्पणमें तो सूर्य प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिगोचर होते हैं और काठ-पत्थर आदिमें नहीं, इसी तरह भगवान् सब जगह समान भावसे रहते हुए भी जिसका हृदय दर्पणकी भाँति शुद्ध है और जो भगवान्को प्रेमसे भजता है, उसके हृदयमें विशेषरूपसे निवास करते हैं । भगवान्ने स्वयं कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भज़ते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

जो भगवान्‌के प्रति निष्कामभावसे अनन्य प्रेम करता है, भगवान् भी उसके प्रति वैसा ही प्रेम करते हैं। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७।१७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला निष्कामी ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इतना ही नहीं, भक्त प्रेमसे भगवान्‌को जो कुछ भी देता है उसे भगवान् प्रकट होकर ग्रहण कर लेते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९।२६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

अतएव—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९ । २७)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९ । २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसा संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतः भक्तिका साधन सब साधनोंसे सुगम भी है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

यदि कहें कि निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति सुलभ तो है; किंतु भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन होना कठिन है तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌में श्रद्धा, प्रेम और आत्मीयता होनेपर कठिन नहीं है; क्योंकि फिर नित्य-निरन्तर चिन्तन अपने-आप ही होने लगता है तथा भगवान्‌के प्रति प्रेम मनुष्यका स्वाभाविक ही होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के सिवा वास्तवमें अपना कोई सुहृद् है नहीं और उनके साथ जीवका नित्य सम्बन्ध है। सत्संग और शास्त्रके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेपर उनमें स्वाभाविक ही प्रेम हो जाता है; क्योंकि भगवान्‌के समान कोई गुणी और प्रभावशाली नहीं है तथा भगवान्‌की भक्तिके साधनके समान और कोई दूसरा साधन नहीं है। भगवान्‌ने भक्ति करनेवाले श्रद्धालु भक्तकी विशेष प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

सगुणोपासक और निर्गुणोपासककी उत्तमताके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने सगुणोपासकको श्रेष्ठ बताया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।

इसके सिवा आगे अ० १२ श्लोक ५ में निर्गुण-निराकारका साधन कठिन बतलाया है और फिर सगुण-साकार उपासनासे आत्माका शीघ्र उद्धार होनेकी बात कही है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२। ६-७)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्ति-योगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इतना ही नहीं, यदि वह पापीसे भी पापी हो तो भी अनन्य भक्तिके प्रभावसे शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

भगवान्‌की अनन्य भक्ति—अनन्य प्रेमसे भक्त भगवान्‌का दर्शन, यथार्थ ज्ञान और भगवान्‌में प्रवेश भी कर सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

यदि कहें कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती—ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है, सो ठीक है । किंतु भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदान कर देते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ; जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

अतएव भक्तियोगमें भगवान्‌के प्रति अनन्य विशुद्ध दृढ़ प्रेम होना ही प्रधान है । उस परम प्रेमकी प्राप्तिके इच्छुक साधकोंको अपने समयके प्रधानतया तीन विभाग समझने चाहिये—१–ऐकान्तिक साधन-काल, २–व्यवहारकाल, ३–शयनकाल । इनको किस प्रकार सुधारकर उत्तमोत्तम रीतिसे व्यतीत किया जाय, इसपर विचार किया जाता है ।

ऐकान्तिक साधन-काल

भक्तियोगके साधकोंको एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान, पूजा, पाठ (स्वाध्याय), स्तुति, प्रार्थना आदि नीचे लिखे अनुसार उत्तम रीतिसे करना चाहिये ।

१. जप–जैसे जल, पानी, नीर, अप, वाटर आदि सब जलके ही नाम हैं, इसी प्रकार ॐ, हरि, राम, कृष्ण, भगवान्, नारायण, वासुदेव, अल्लाह, खुदा, गाड आदि भगवान्‌के हजारों नाम हैं । ये सभी समान हैं । किंतु जिसकी जिस नाममें रुचि, श्रद्धा, विश्वास विशेषरूपसे है, उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है । जो नाम-जप वाणीके द्वारा जोरसे उच्चारण करके किया जाता है, उसकी अपेक्षा जो दूसरोंको सुनायी न दे ऐसे धीमे स्वरसे ओठोंके द्वारा

उच्चारण किया जानेवाला उपांशु जप अधिक महत्त्वका होता है तथा उपांशु जपकी अपेक्षा मानसिक जप और भी अधिक महत्त्वका है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनु० २। ८५)

'विधि-यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानस-जप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

२. ध्यान—भगवान्‌के निराकार या साकार और साकारमें भी शिव, विष्णु, राम, कृष्ण या अन्य जिस-किसी भगवत्स्वरूपमें जिसकी श्रद्धा, विश्वास और प्रीति हो, उसके लिये वही विशेष लाभ-प्रद है। किंतु भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करनेके समय भगवान्‌के गुण-प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान किया जाय तो वह विशेष लाभदायक है।

३. पूजा—मन्दिरोंमें या अपने घरमें अपने इष्टदेवताका षोडशो-पचारके द्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे पूजन करना उत्तम है। इससे भी उत्तम है अपने हृदयरूप मन्दिरमें या बाह्य आकाशमें अपने इष्टदेवके स्वरूपकी स्थापना करके षोडशोपचारद्वारा विधिपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे मानसिक सामग्रीसे मानसिक पूजन करना। बाह्य पूजा तो बिना मन-के भी हो सकती है; किंतु मानसिक पूजा तो बिना मन लगाये होती ही नहीं, इसलिये बाहरी सामग्रीसे पूजा करनेकी अपेक्षा मनसे पूजा करना और भी श्रेष्ठ है।

भगवान्‌को प्राणीमात्रके उत्पादक और रक्षक तथा प्राणीमात्रमें

व्यापक समझकर भगवद्भावसे सबकी सेवा, आदर-सत्कार करना—यह भगवत्पूजा व्यापक होनेके कारण पूर्वोक्त पूजाकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। इस पूजाका स्वरूप भगवान्‌ने गीतामें यों बताया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मों-द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

४. पाठ (स्वाध्याय)—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता, रामायण, भागवत, स्तोत्र आदि धार्मिक ग्रन्थोंके साधारणतया किये जानेवाले स्वाध्यायकी अपेक्षा उन ग्रन्थोंमें आये हुए भगवान्‌के गुण-प्रभावके प्रसंगोंका तत्त्व-रहस्य समझते हुए अनुशीलन करना विशेष लाभप्रद है।

५. स्तुति—भगवान्‌के गुणोंका गायन करना ही 'स्तुति' कहा जाता है। जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
(१० । १२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी

आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।

इसी प्रकार गीतामें तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी भगवान्की स्तुतियाँ नाना प्रकारसे मिलती हैं। उन स्तुतियोंका भगवान्के गुण-प्रभावको समझकर श्रद्धा-प्रेम-भावसे गायन करना विशेष लाभप्रद है।

६. प्रार्थना—किसी भी कार्यसिद्धिके लिये या किसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये भगवान्से याचना करना 'प्रार्थना' करना है। जैसे गीतामें अर्जुनने भगवान्से चतुर्भुजरूपके दर्शनके लिये प्रार्थना की है—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥
(११।४६)

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप! हे सहस्रबाहो! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये।'

इस प्रकार भक्तोंने नाना प्रकारसे भगवान्से प्रार्थना (याचना) की है, जिनका विभिन्न ग्रन्थोंमें वर्णन पाया जाता है। प्रार्थना भी भगवान्का तत्त्व-रहस्य समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्में अनन्य विशुद्ध प्रेम प्राप्त होनेके लिये ही की जाय तो वह बहुत उत्तम है।

उपर्युक्त छहों साधनोंमेंसे जिस समय जो भी साधन किया जाय उसे (१) भावसहित अर्थ समझते हुए, (२) परम श्रद्धा,

(३) अनन्य विशुद्ध प्रेम और (४) मनोयोगपूर्वक, (५) गुप्त तथा (६) निष्कामभावसे करना चाहिये। इस प्रकार किये हुए साधनका महत्त्व हजारों गुना बढ़ जाता है।

अब इन छहों प्रकारोंके सम्बन्धमें लिखा जाता है—

(१) भावसहित अर्थ समझना—जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थनाका भावसहित अर्थ समझना यह है कि जो कुछ भी जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना की जाय, उसका वास्तविक अभिप्राय (भाव) और तत्त्व-रहस्य क्या है—इसे भलीभाँति समझकर करना।

(२) परम श्रद्धा—किसीमें भी जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास और पूज्यभाव है, उसका नाम 'श्रद्धा' है तथा जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर पूज्यभावपूर्वक विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है। जैसे पत्नीसहित राजा द्रुपदको भगवान् शिवजीने यह वर दिया था कि पहले तुम्हारे कन्या उत्पन्न होगी; किंतु वही बादमें पुरुष बन जायगा—इसके अनुसार उनके कन्या उत्पन्न हुई, किंतु श्रीशिवजीके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करके कन्या रहते हुए भी उसे पुरुष मानकर उसका पुरुषों-जैसे ही 'शिखण्डी' नाम रक्खा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी उन्होंने दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्माकी पुत्रीके साथ कर दिया। शिवजीके वरदानके अनुसार बादमें शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८–१९२)। इसका नाम प्रत्यक्षसे बढ़कर विश्वास यानी परम श्रद्धा है।

(३) अनन्य विशुद्ध प्रेम—केवल एक भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ

हैं, वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति और परम आश्रय हैं। वे ही माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं, उनके सिवा हमारा कोई आत्मीय नहीं है—ऐसा समझकर केवल उनमें ही स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य निष्काम प्रेम हो, उनके सिवा अन्य किसीमें भी प्रेम न हो, उसको 'अनन्य विशुद्ध प्रेम' कहते हैं। इसे ही गीतामें अनन्य भक्ति कहा गया है (११। ५४-५५; १३। १०; १४। २६)। इन श्लोकोंका भाव विस्तारसहित गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-तत्त्वविवेचनी' टीकामें देख सकते हैं।

(४) **मनोयोग**—मन लगाकर साधन करना ही मनोयोग-पूर्वक साधन करना है। यह नहीं होना चाहिये कि हम हाथमें माला रखकर जप कर रहे हैं और मन कहीं-का-कहीं जा रहा है। किसी कविने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँदिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

इसी प्रकार गीता-रामायण आदिका पाठ करते समय मन कहीं जा रहा है और वाणीसे पाठ हो रहा है, यह पता ही नहीं है कि कहाँ किस स्थलका पाठ चल रहा है। तो वह मनोयोगपूर्वक साधन नहीं है।

इसी तरह स्तुति-प्रार्थना आदिके विषयमें समझ लेना चाहिये। अतः उपर्युक्त साधनोंको करते समय मन अन्यत्र कहीं नहीं जाय, निरन्तर साधनमें ही लगा रहे—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

(५) **गुप्तभाव**—उपर्युक्त साधनोंके द्वारा भगवत्कृपासे कोई विशेष अनुभवयुक्त घटना हो जाय तो उसको तथा इन साधनोंको भी गुप्त रखना चाहिये, किसीसे भी न कहना चाहिये; क्योंकि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी आकाङ्क्षासे कहनेपर अभिमान बढ़ता है और विशेष अनुभव होना बंद हो जाता है। जैसे कपूरभरी डिबिया-का मुख खोल देनेपर उसमेंसे कपूर शनैः-शनैः क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार अपने मुखसे अपने गुण, प्रभाव, साधन या उसके फलकी प्रशंसा करनेसे उसका महत्त्व क्षीण हो जाता है। इसलिये गुप्तभावसे साधन करना चाहिये।

(६) **निष्कामभाव**—ईश्वर, महात्मा, देवता, मनुष्य या अन्य किसी भी प्राणीसे तथा जड पदार्थोंसे भी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, आरोग्य, कष्टनिवृत्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोकके और स्वर्ग आदि परलोकके भी किसी भी पदार्थके लिये किञ्चिन्मात्र भी कामना, याचना, अभिलाषा, इच्छा कभी न करना 'निष्काम-भाव' है।

किंतु भगवान्के प्रति परम श्रद्धा और परम प्रेमकी प्राप्तिके लिये, जप-ध्यान आदि निरन्तर होनेके लिये, भगवत्प्राप्तिके लिये और भगवान्के साथ नित्य संयोगके अनुभवके लिये भगवान्से जो कामना है, वह निष्कामके ही तुल्य है।

व्यवहारकाल

व्यवहारकालमें निम्नलिखित छः बातोंको काममें लाना चाहिये—

(१) व्यवहारकालमें यानी चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते,

व्यवसाय और व्यवहार करते समय निरन्तर भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण रखते हुए ही उन कार्योंको करना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

> तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
>
> (गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब भगवान्‌का निरन्तर स्मरण रखते हुए युद्ध भी हो सकता है, तब अन्य सब कार्य होनेमें तो आपत्ति ही क्या है! अर्जुन क्षत्रिय था, अतः उसके लिये युद्ध कर्तव्य था। इसी प्रकार दूसरे वर्णाश्रम-वालों और स्त्रियोंको अपने-अपने शास्त्रविहित कर्तव्यका पालन भगवान्‌को निरन्तर स्मरण रखते हुए ही करना चाहिये।

(२) मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं, यह भगवान्‌के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध सदासे है, सदा ही रहेगा—इस प्रकार समझकर भगवान्‌के साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिये।

(३) ये स्थावर-जङ्गम सारे प्राणी भगवान्‌के हैं और इन सबमें भगवान् व्यापक हैं—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे सेवा और आदर-सत्कार करना चाहिये।

(४) जो कुछ भी शास्त्रविहित क्रिया की जाय, उसको भगवान्‌की आज्ञा समझकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये,

भगवान्‌में परम विशुद्ध प्रेम होनेके लिये और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही निष्कामभावसे करना चाहिये ।

(५) जैसे अर्जुनने अपने रथ, घोड़े और घोड़ोंकी बागडोरको भगवान्‌के हाथमें सौंप दिया था । भगवान् जिस प्रकार अर्जुनको चलाते थे, वह वैसे ही चलता था । उसी प्रकार हमलोगोंको अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीररूपी रथको भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये । भगवान्‌की कठपुतली बनकर रहना चाहिये । जैसे भगवान् नचावें, वैसे ही नाचना चाहिये । यह भगवान्‌की शरणागतिका भाव है । श्रीभगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(गीता ९ । ३४)

‘मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ।’

‘मन्मना भव’ के अनुसार मनके द्वारा भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना मनका भगवान्‌में अर्पण है ।

‘मद्भक्तो भव’ के अनुसार बुद्धिके द्वारा ‘मैं भगवान्‌का हूँ’ इस प्रकार तत्त्वसे समझकर भगवान्‌में अनन्य प्रेम करना बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण है ।

‘मद्याजी’ के अनुसार सबमें भगवान्‌को समझकर इन्द्रियोंके द्वारा सबकी सेवा-पूजा-सत्कार करना इन्द्रियोंका भगवान्‌में अर्पण है ।

'मां नमस्कुरु' के अनुसार देहसे अहंता-ममता उठाकर भगवान्के चरणोंकी सेवामें शरीरको लगा देना शरीरका भगवान्में अर्पण है ।

इस प्रकार भगवान्के शरण हो जानेपर उस भक्तका 'करना' 'होने'में बदल जाता है ।

(६) जो कुछ भी सुख-दु:ख, लाभ-हानि, अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ, परिस्थिति और घटना प्राप्त हो उन सबको भगवान्का विधान अथवा भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार या भगवान्की लीला समझकर हर समय राग-द्वेषसे रहित हो सम, संतुष्ट और प्रसन्न रहना चाहिये ।

शयनकाल

शयनके समय संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दु:खरूप समझते हुए इसके संकल्पोंके प्रवाहका सर्वथा त्याग करके भगवान्में विशुद्ध परम प्रेम होनेके लिये भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यके संकल्पोंका प्रवाह बहाते हुए शयन करना चाहिये । इससे वह शयनकाल भी साधनकालके रूपमें परिणत हो जाता है ।

इस प्रकार भक्तियोगका साधन करनेसे भगवान्में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति हो जाती है । अतएव भगवान्में अनन्य विशुद्ध परम प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारसे भक्तिका साधन करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये ।

समयका सदुपयोग

समयकी अमूल्यताके रहस्यको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सारा समय भगवान्‌के प्रभाव और रहस्यको समझते हुए श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर केवल ईश्वरके चिन्तनमें ही लगावे। यदि मनुष्य भगवच्चिन्तनका ऐसा अभ्यास करे तो उसको बहुत अल्प समयमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकारके अभ्याससे सम्पूर्ण दुर्गुणों, दुराचारों एवं दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है और मनुष्य अनायास ही सदाचार और सद्-गुणोंसे सम्पन्न होकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त होता है।

संसारमें चौरासी लाख जातिके अनन्त जीव शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। इन सबमें परमात्माकी प्राप्तिका अधिकार केवल मनुष्यको ही माना गया है। परमात्माकी असीम दयाके प्रभावसे तो अनधिकारी पशु-पक्षी तिर्यक्-योनिके जीवोंको भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकारकी बातें इतिहासोंमें मिलती हैं; परंतु वह अपवादरूप है, नियम नहीं। सारी सृष्टिके जीवोंकी संख्याका अनुमान करना तो वस्तुतः लड़कपन है; परंतु मनुष्यकी साधारण बुद्धिसे इतना कहा जा सकता है कि समस्त सृष्टिके अनन्तकोटि जीवोंमें मनुष्यकी संख्या अपार समुद्रमें एक क्षुद्र तरङ्गके समान ही है। यदि प्रत्येक योनिको भोगते हुए ठीक क्रमसे जीवको मनुष्य-शरीर मिले तब तो अनेकों युगोंके बाद उसका मिलना सम्भव है। आचरणोंकी ओर देखनेपर भी निराशा ही होती है, आचरण तो ऐसे हैं कि उनसे शीघ्र मनुष्य-शरीर मिलनेकी आशा ही नहीं की

जा सकती। जिसको मनुष्य-शरीर मिलता है उसपर ईश्वरकी महान् दया समझनी चाहिये। इसीसे श्रीरामचरितमानसमें कहा गया है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४३। २-३)

अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको यह समझ रखना चाहिये कि अनन्त युगोंसे भटकते हुए अनन्तकोटि जीवोंमें जो अत्यन्त ही भाग्यशाली और मुक्तिके अधिकारी समझे जाने योग्य जीव होते हैं, उन्हींको ईश्वर यह दुर्लभ मुक्तिदायक मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं। ऐसे दुर्लभ और क्षण-भङ्गुर अनित्य मनुष्य-शरीरको पाकर जो जीव शीघ्र-से-शीघ्र अपने आत्माके कल्याणके लिये तत्पर नहीं होता उसके समान मूर्ख और कोई भी नहीं है। जब मनुष्यका शरीर मिल गया, तब यह समझ लेना चाहिये कि सामान्यभावसे मुक्तिके अधिकारी तो हम हैं ही। ऐसा न होता तो मनुष्य-शरीर ही हमें क्यों दिया जाता। दयामयकी अपार दया है जिसने हमें मुक्तिका अधिकारी बनाया। इस अधिकारको पाकर भी यदि हम उस दयामयकी दयाकी अवहेलना कर अपने समयको व्यर्थ भोग, प्रमाद, पाप और आलस्यमें बितावें तो उसे मूढ़ताके अतिरिक्त और क्या कहा जाय? आहार, निद्रा और मैथुनादि तो प्रायः सभी योनियोंमें प्राप्त होते ही रहते हैं, फिर मनुष्यके शरीरको पाकर भी यदि जीव उन्हीं विषयोंमें अपना जीवन बिताता रहे तो फिर उस मनुष्यमें और पशुमें अन्तर ही क्या रह जाता है। कुतियाके साथ कुत्तेको जो सुख प्राप्त होता है, वही राजाको रानीके साथ और इन्द्रको

इन्द्राणीके साथ प्राप्त होता है। पुष्पोंकी सुकोमल शय्यापर सोनेमें जो सुख विलासी मनुष्यको मिलता है, वही सुख गदहेको घूरेकी राखपर लोटनेमें मिलता है। नाना प्रकारके मेवा-मिष्ठान्न खानेमें मनुष्यको जो आनन्द मिलता है, वही आनन्द कुत्ते, कौवे आदि पशु-पक्षियोंको अपने-अपने आहारमें मिलता है। ईश्वरकी दयाके फलस्वरूप दुर्लभ मनुष्य-शरीरको और ऐसी मानवी बुद्धिको पाकर भी यदि हम इन पशु-पक्षियों-की भाँति आहार, निद्रा और मैथुनादिको ही सर्वोत्तम सुख समझकर इन्हीं-में अपना समय बितावें तो वास्तवमें हमारा दर्जा इन पशु-पक्षियोंसे भी बहुत नीचा हो जाता है, क्योंकि उन बेचारोंमें तो इस प्रकार समझने और विचार करनेकी बुद्धि नहीं है। इसीलिये वे इतने दोषी नहीं हैं, परंतु मनुष्यत्वके अभिमानको रखनेवाला प्राणी यदि उन्हींकी भाँति आचरण करता है तो उसके लिये यह अत्यन्त ही शोक और लज्जाकी बात है।

याद रखना चाहिये कि मनुष्यकी आयु परिमित है और वह भी बहुत ही कम है। अधिक-से-अधिक वर्तमान समयमें सौ वर्षकी आयु मानी गयी है। वह भी आजकल सौ पीछे लगभग पाँचको भी प्राप्त नहीं होती। इस आयुका कितना अंश तो लड़कपनमें ही बीत जाता है। वृद्धावस्थामें साधन प्रायः बन ही नहीं पड़ता। जो लोग यह मानते हैं कि हम वृद्धावस्थामें साधन कर लेंगे, वे बहुत भूल करते हैं। बचा हुआ समय भी अनेक प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे पूर्ण है। हमारे पूर्वसंचित पाप, वर्तमानकी कुसंगति और विषयासक्तिके कारण विघ्न-बाधाएँ आती ही रहती हैं। शरीर भी सदा नीरोग नहीं रहता। मनुष्यकी बुद्धि और उसके विचार भी सदा एक-से नहीं रहते। कुसङ्गमें बुद्धि बिगड़ ही जाती है और जगत्में

प्रायः कुसङ्ग ही अधिक होता है। आलसी, भोगी, प्रमादी, दुराचारी, अहङ्कारी और नास्तिक मनुष्योंका सङ्ग ही कुसङ्ग है। फिर पता नहीं, मौत किस क्षणमें आ जाय। ऐसे घोर विघ्नोंसे बचकर इतने अल्प-कालमें अपने ध्येयकी सिद्धि वही बुद्धिमान् पुरुष कर सकता है जो सब ओरसे मन हटाकर अत्यन्त तत्परताके साथ सम्पूर्णरूपसे ध्येयकी सिद्धिके प्रयत्नमें ही लग जाय। वास्तविक बुद्धिमान् वही है जो ऐसे अमूल्य समयका एक भी क्षण आलस्य और प्रमादमें न बिताकर प्रतिक्षण अपने लक्ष्यपर लगा रहता है। मनुष्यको अपनी इस आयु-का एक-एक क्षण बड़ी सावधानीके साथ उसी प्रकार परम आवश्यक साधनमें लगाना चाहिये जिस प्रकार कोई अत्यन्त गरीब और आजी-विकासे रहित कंजूस मनुष्य अपने थोड़े-से परिमित पैसोंको आवश्यक कार्यमें ही व्यय करता है। समयकी अमूल्यताके रहस्यको जाननेवाले पुरुष कदापि समयका व्यर्थ व्यय नहीं कर सकते। अतएव हमलोगोंको चाहिये कि मृत्युके समीप पहुँचने और वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेके पहले-पहले ही तत्परतासे प्रयत्न करके अपने ध्येयकी सिद्धि कर लें। नहीं तो पीछे बड़ा भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४३)

अभी बहुत अच्छा मौका है, क्योंकि इस घोर कलिकालमें निष्कामभावसे किया हुआ थोड़ा-सा भी भगवद्भजनरूप साधन कल्याणकारी माना गया है, तिसपर ईश्वरकी दयाका तो पार ही नहीं है। इतनेपर भी यदि हम उसकी दया, प्रेम और प्रभावके

रहस्यको समझकर उसका भजन करनेके लिये कटिबद्ध न हों तो फिर कर्मोंके और समयके मत्थे दोष मढ़ना सर्वथा असङ्गत है। अतएव उठो, सावधान होओ और महर्षियोंद्वारा बतलाये हुए अपने परम ध्येयकी सिद्धिके लिये कमर कसकर प्रयत्नमें लग जाओ।

आजसे कल और कलसे परसों यों उत्तरोत्तर जो आत्मोन्नति-के पथपर आगे बढ़ते हैं, वे बुद्धिमान् हैं। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि शास्त्रोंमें बतलायी हुई बातोंमें जो सर्वोत्तम प्रतीत हों उन्हींके आचरणमें अपना समय लगाना चाहिये। साथ ही अपनी दृष्टिमें जो शास्त्रानुमोदित लक्षणोंवाले महापुरुष हों, उनके बतलाये हुए पथपर चलना चाहिये। ऐसे महापुरुषोंके उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये। यदि उत्तम पुरुषोंका समागम न मिले तो पूर्वमें होनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन-चरित्र पढ़कर उनके गुण और आचरणोंको आदर्श मानकर तदनुसार अपने जीवनको उत्तरोत्तर सर्वोत्कृष्ट बनाते रहना चाहिये। जब-तक जीवन रहे तबतक आगे बढ़ता ही रहे। कहींपर यह न मान बैठे कि मेरी सर्वोपरि उन्नति हो गयी, इसके आगे और कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसा मानना उन्नतिके मार्गको रोक देना है। रोक देना ही नहीं, इस प्रकार मान बैठनेवाले अनेकों मनुष्य तो अपनी स्थितिसे ही गिर जाते हैं।

मानवी बुद्धिरूपी गजसे वास्तविक उन्नतिका माप हो ही नहीं सकता। वह गज उसकी सीमातक नहीं पहुँच सकता। जहाँ सीमा शेष हो जाती है, देहाभिमानका सर्वथा नाश हो जाता है, वहाँ तो इस बातको माननेवाला या कहनेवाला कोई धर्मी रह नहीं जाता कि मुझको अब कोई कर्तव्य नहीं है और जबतक देहा-भिमान है अर्थात् जबतक देहको आत्मा माननेवाला या देहका

स्वामी बना हुआ कोई धर्मी है तबतक कर्तव्यका अन्त मान लेना बड़ी भारी भूल है। जबतक देहमें किसी भी रूपमें अपनी व्यवस्था करनेवाला, अपनी स्थिति समझनेवाला कोई धर्मी है, तबतक उसको उत्तरोत्तर उन्नतिके प्रयत्नमें लगे रहना चाहिये। जो पुरुष परमात्माको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त हो जाता है, यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता तथापि लोक-उद्धारके लिये उसके द्वारा भी कर्म होते रहते हैं। अवश्य ही उसके कर्म अकर्म ही बतलाये गये हैं।

उन्नति चाहनेवाले पुरुषके लिये कर्तव्यकी समाप्ति कभी होती ही नहीं। संसारमें निषिद्ध कर्म करनेवालोंकी अपेक्षा निषिद्ध कर्म न करनेवाले उत्तम हैं, उनसे उत्तम वे हैं जो धन, पुत्र, स्त्री, मान, बड़ाई या स्वर्गादिकी कामनासे उत्तम आचरण और ईश्वरकी भक्ति करते हैं। उनसे श्रेष्ठ वे हैं जो सदाचार-पालन और ईश्वरकी भक्ति करते समय तो भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगते, परंतु पीछे किसी संकटमें पड़नेपर उस संकटकी निवृत्तिके लिये ईश्वरसे याचना करते हैं। उनसे भी वे श्रेष्ठ हैं, जो आत्मोद्धारके अतिरिक्त अन्य किसी भी बातके लिये कभी इच्छा नहीं रखते। वे तो अति श्रेष्ठ हैं, जो ईश्वरके तत्त्वको जानकर बिना ही किसी हेतुके स्वाभाविक ही ईश्वरकी भक्ति और सदाचारका प्रेमपूर्वक पालन करते हैं और उन महापुरुषोंके लिये तो कुछ कहना ही नहीं बनता, जो ईश्वरको प्राप्त हो चुके हैं। ईश्वरप्राप्त पुरुषोंमें भी वे सर्वोत्तम हैं, जिनको ईश्वरकी ओरसे संसारमें सदाचार और भक्तिके प्रचारके लिये आदेश या अधिकार प्राप्त है। ईश्वरके यहाँसे जो इस बातका अधिकार

लेकर आते हैं, उन्हींको कारक पुरुष और अंशावतार भी कहते हैं। और दयामय भगवान् तो सबसे उत्तम और समस्त उत्तमताके आधार ही हैं, जो जीवोंके उद्धारके लिये स्वयं समय-समयपर अवतीर्ण होकर शाश्वत धर्म और परमपावनी भक्तिका प्रचार करते हैं। अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह सर्वोत्तम पुरुषको अपना आदर्श और ध्येय मानकर उनके आचरण और गुणोंका अनुकरण तथा उनकी आज्ञाका पालन करते हुए अपने जीवनको उत्तरोत्तर उन्नत बनानेमें ही अपना समय लगावे। इसीमें मनुष्यकी बुद्धिमत्ता है।

इस प्रकारकी सर्वोच्च उन्नतिके लिये अर्थात् श्रीपरमात्माकी प्राप्तिके लिये श्रद्धा और प्रेमकी सबसे बढ़कर आवश्यकता है। श्रद्धा पहले होती है, तभी प्रेम होता है। सबसे उत्तम श्रद्धाके पात्र तो परमेश्वर ही हैं। दूसरे वे भी श्रद्धाके पात्र हैं, जिनके संगसे हमारी परमेश्वरमें श्रद्धा होती है, जिनको परमेश्वरकी प्राप्ति हो चुकी है अथवा जो परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। परमेश्वर, साधु-महात्मा और उनके वचन, आचरण तथा गुणोंमें जो प्रत्यक्षवत् विश्वास और उच्चभाव है, उसीका नाम श्रद्धा है। जैसे एक पत्थर है और किसी महापुरुषने उसे पारस बतला दिया, तो ऐसी अवस्थामें महापुरुषमें श्रद्धा रखनेवाले मनुष्यको वह पत्थर उसी क्षण पारस ही दीखने लगता है, यानी हमने एक चीजको देखा है, सुना है और समझा है, उसी चीजको यदि महापुरुष दूसरी चीज (हमारे प्रत्यक्ष अनुभवसे विपरीत) बतावें और उनके बतलाते ही हमारे मनमें और हमारी दृष्टिमें हमारी समझी हुई चीज न रहकर महापुरुषकी बतलायी हुई चीज ही प्रत्यक्ष हो जाय, यह सर्वोत्तम श्रद्धा है। चीज वैसी दीखे तो नहीं; परंतु

श्रद्धाके कारण विश्वास कर लिया जाय, यह मध्यम श्रद्धा है और महापुरुषके द्वारा बतलायी हुई बातमें विश्वास करनेकी कोशिश करना कनिष्ठ श्रद्धा है। हमें महापुरुषोंमें श्रद्धा करनी चाहिये। परंतु आजकल प्रथम तो संसारमें परमेश्वरकी प्राप्तिवाले महापुरुष हैं ही बहुत कम। यदि कोई हैं तो उनका मिलना कठिन है और मिल भी जायँ तो उनको पहचानना अति दुर्गम है। यदि दैवयोगसे हमें महापुरुष मिल जायँ तो ईश्वरकी बड़ी कृपा समझनी चाहिये। न मिलें तो, उनके दिये हुए सदुपदेश और उनके जीवनके शुद्ध आचरणोंको आदर्श मानकर उनमें श्रद्धा करनी चाहिये। इस मार्गमें चलनेवाले साधकोंका संग भी बहुत सहायक होता है। उनमें भी यथायोग्य श्रद्धा रखनी चाहिये।

श्रद्धासे प्रेम तो आप ही हो जाता है। ईश्वरके प्रति किया हुआ प्रेम तो ईश्वरमें है ही, परंतु ईश्वरकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ईश्वरप्राप्त पुरुषोंमें, साधकोंमें और शास्त्रोंमें जो प्रेम किया जाता है, वह भी प्रकारान्तरसे ईश्वरमें ही है। अवश्य ही प्रेम स्वार्थरहित होना चाहिये। स्वार्थरहित प्रेमसे ही परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति होती है। अपने प्रेमास्पदके गुण, स्वभाव, आचरण, नाम और स्वरूपका श्रवण, पठन और चिन्तन होते ही शरीरमें रोमाञ्च, अश्रुपात, कम्प, कण्ठावरोध, प्रफुल्लता आदि लक्षणोंका प्रकट हो जाना प्रेमके बाहरी चिह्न हैं। संयोगमें परम प्रसन्नता, परम शान्ति और विस्मृति आदि होना तथा वियोगमें परम व्याकुलता, अत्यन्त असहनशीलता और निरन्तर चिन्तन आदि होना प्रेमके भीतरी चिह्न हैं। प्रेमास्पदके ध्यानमें परम शान्ति और आनन्द तथा व्यवहारकालमें उसके नाम, रूप, गुण और आचरणोंका सतत

स्मरण एवं उसके अनुकूल आचरण आदि प्रेमको बढ़ानेवाले हैं। इन सबके मूलमें श्रद्धा रहती है। ये श्रद्धा और प्रेम परमेश्वरके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणोंको समझनेसे होते हैं। अतएव अब हमें तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणके सम्बन्धमें कुछ विचार करना चाहिये। परमात्माके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणोंका विस्तार अनन्त है और यह बड़ा ही निगूढ़ विषय है। इसलिये इसका सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करना चाहिये।

तत्त्व

जैसे जलके परमाणु, बादल, जल और बरफ यह सब तत्त्वसे एक जल ही हैं, वैसे ही अनिर्वचनीय, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और मनोहर साकार विग्रह सब एक भगवान् ही है। आकाश शुद्ध निर्मल है, उसमें परमाणुरूपसे जल है, परंतु वह न तो नेत्रोंद्वारा दीखता है और न किसी यन्त्रद्वारा ही दिखायी देता है तथापि उसका होना विज्ञानसिद्ध है। वही जल जब बादलके रूपमें आता है तब भी जल तो नहीं दीखता; परंतु विचार करनेसे यह बात समझमें आ जाती है कि बादलमें जल है। फिर हवाके संसर्गसे वह बरसने लगता है। और वही जल सर्दी पाकर बरफके रूपमें आ जाता है। ऐसे ही ब्रह्म अनिर्वचनीय, अलक्ष्य, अचिन्त्य और गुणातीत है, उसके किसी एक अंशमें गुणका सम्बन्ध-सा प्रतीत होता है। अर्थात् अनन्त ब्रह्मके किसी एक अंशमें सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमयी प्रकृति (अव्याकृत माया) स्थित है। उसी ब्रह्मके अंशको सगुण ब्रह्म कहा जाता है। इस मायाविशिष्ट ब्रह्मको ही सगुण-निराकार ब्रह्म समझना चाहिये। अव्याकृत माया निराकार है, परंतु वह है गुणमयी, इसीलिये उससे सम्बन्ध रखनेवाला ब्रह्म

सगुण-निराकार माना गया है। सत्-चित्-आनन्दस्वरूपसे इसी सगुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना की जाती है। गुणातीतकी उपासना नहीं बन सकती; क्योंकि गुणोंसे अतीत वस्तु किसीका विषय नहीं हो सकती; परंतु गुणातीतके भावको लक्ष्यमें रखकर सगुण-निराकारकी उपासना की जाती है। उसीका फल गुणातीत शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया है। वह विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म ही अपनी इच्छासे तेजोमय प्रकाशस्वरूपमें आता है। उसको ज्योतिर्मय भी कहते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि सम्पूर्ण ज्योतियोंका प्रकाशक होनेके कारण उसे ज्योतियोंका ज्योति कहा गया है। वही ज्योतिर्मय ब्रह्म चतुर्भुजरूपसे महाविष्णुके आकारमें दिव्य विग्रह धारण करता है। उसी चतुर्भुज महाविष्णुको सगुण-साकार ब्रह्म कहते हैं। वही महाविष्णु ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य करता है। जैसे परमाणु, बादल, जल और बर्फ तत्त्वसे विचार करनेपर एक जल ही है। इन सबको लेकर ही जलका एक समग्र रूप है। इसी प्रकार गुणातीत, सगुण-निराकार ज्योतिर्मय और सगुण-साकार सब मिलकर ही एक समग्र ब्रह्म है। इस समग्रको उपर्युक्तरूपसे जानना ही भगवान्‌को तत्त्वसे जानना है। परंतु यह बात ध्यानमें रहे कि जल जैसे जड, विकारी और अनित्य है, वैसे भगवान् जड, विकारी और अनित्य नहीं है। संसारमें दूसरा कोई उसकी तुलनामें उदाहरण नहीं है, इसलिये जलका उदाहरण समझानेके लिये दिया गया है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिके शरीर, वृक्ष, पहाड़, वनस्पति एवं सोना, चाँदी आदि धातुएँ और घट-पटादि

सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थ एक पृथ्वीके ही रूपान्तर हैं, इन सबकी उत्पत्ति मिट्टीसे होती है और अन्तमें ये सब मिट्टीमें ही जाकर समाप्त हो जाते हैं। विज्ञानके द्वारा विचार करके देखनेसे वर्तमान कालमें भी सब मिट्टी ही सिद्ध होते हैं। इस समग्रका नाम जैसे पृथ्वी है, इसी प्रकार निर्गुण, सगुण, साकार आदि समग्रका नाम ही परमेश्वर है। जो साकार-सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले ब्रह्मको एकदेशमात्रमें मानकर निर्गुण-निराकार और सगुण-निराकारकी निन्दा करते हैं, वे ब्रह्मकी ही निन्दा करते हैं। इसी प्रकार जो निर्गुण-निराकारके उपासक निर्गुणके अतिरिक्त निराकार और साकाररूप सगुण ब्रह्मको उससे भिन्न समझकर निन्दा करते हैं, वे भी उसी ब्रह्मकी निन्दा करते हैं। अतएव वे दोनों ही ब्रह्मके तत्त्वको नहीं जानते। भगवान् तो कहते हैं कि सब कुछ वासुदेव ही है 'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७। १९)। भगवान्‌की शरण लेकर किसी भी रूपकी उपासना करनेवाले श्रद्धालु पुरुष उस समग्र ब्रह्मको जानकर उसे प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥
(गीता ७। २९-३०)

'जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं। जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं।'

रहस्य

ईश्वरका रहस्य अद्भुत और अलौकिक है । वह ईश्वर-कृपासे ही यत्किञ्चित् जाना जा सकता है । 'रहस्य' छिपे हुए तत्त्वको कहते हैं । रहस्य (मर्म) हर किसीको नहीं बतलाया जाता । कोई भी मनुष्य अपनी पूँजीका रहस्य पूछनेपर भी अपने परम विश्वासी और अन्तरङ्ग प्रेमीके सिवा और किसीको नहीं बतलाता । साधु महात्मागण भी अपनी स्थितिका हाल बिना अधिकारीके नहीं कहते । भगवान् भी अपने अधिकारी प्रिय भक्तको ही अपना रहस्य बतलाते हैं । भगवान्ने गीतामें जहाँ-जहाँपर ऐसा कहा है कि 'यह रहस्यका विषय है', 'यह गोपनीय है', 'यह गुह्यतम' या 'सर्वगुह्यतम' है, वहाँ-वहाँपर यही तत्त्व बतलाया है कि 'मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ, तू मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही शरण हो आदि ।' इस प्रकार अपनी वास्तविक स्थिति अपने प्रिय प्रेमीको बतला देना ही असली रहस्य खोल देना है । जैसे गीता अध्याय ४ श्लोक १ से १४ तकमें भगवान्ने यह रहस्य समझाया है कि 'मैं साक्षात् परमात्मा पृथ्वीका भार हरण करने, साधुओंका परित्राण करने और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये लीलासे प्रकट होता हूँ ।' गीता अध्याय १८ । ६४में 'मैं तुझे सर्वगुह्यतम रहस्य कहता हूँ' ऐसा कहकर अगले श्लोक ६५-६६में स्पष्ट कह दिया है कि 'मैं ही ईश्वर हूँ, तू एकमात्र मेरी ही शरण आ जा ।'

इसी प्रकार उत्तङ्क मुनिने जब भगवान् श्रीकृष्णको शाप देना चाहा, तब आपने उनको अपना रहस्य बतलाकर शान्त किया । वहाँ यह कहा कि 'समय-समयपर अवताररूपसे मैं प्रकट होता हूँ । मैं ही साक्षात् परमात्मा इस समय मनुष्यरूपमें श्रीकृष्ण-नाम-

से प्रकट हूँ । आप मुझको नहीं जानते, इसीलिये शाप देनेकी बात कहते हैं । आप मुझे शाप न दें । मुझपर आपके शापका कोई असर नहीं होगा और आप तपोभ्रष्ट हो जायँगे ।' फिर उत्तङ्कके प्रार्थना करनेपर उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाकर आश्वासन दिया (महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, अध्याय ५३-५४) ।

इसी तरह अन्यान्य भक्तोंको भी भगवान्ने समय-समयपर अपना रहस्य बतलाया है । जो मनुष्य गुरु, शास्त्र, संत या सत्संग आदि किसी भी साधनसे ईश्वरके रहस्यको यानी छिपे हुए परम तत्त्वको समझ जाता है वह फिर एक क्षणके लिये भी ईश्वरको नहीं भूल सकता । वह नित्य-निरन्तर ईश्वरको ही भजता है । वह जान लेता है कि ईश्वर ही सर्वोत्कृष्ट है । सर्वोत्कृष्टको छोड़कर निकृष्टको कौन बुद्धिमान् भजेगा ? एक खानि है, उसमें सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, पत्थर, कोयला आदि कई चीजें हैं । जिसको जिस चीजकी इच्छा हो वह उससे वही चीज निकाल ले सकता है । खोदने आदिका परिश्रम एक-सा ही है और समय भी समान ही लगता है । ऐसी अवस्थामें कोई मूढ़ व्यक्ति भले ही सोनेको छोड़कर पत्थर और कोयला आदि निकालने लगे । सोनेके तत्त्वको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष तो एक मिनटके लिये भी दूसरी चेष्टा न करके सोना निकालनेमें ही लग जायगा । इसी प्रकार ईश्वरके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला पुरुष यह समझ जाता है कि ईश्वरसे बढ़कर और कोई भी वस्तु नहीं है, इसलिये वह सबसे मुँह मोड़कर केवल ईश्वरको भजनेमें ही लग जाता है । भगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(गीता १५ । १९)

'हे अर्जुन ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

वास्तवमें सारा विश्व परमेश्वरका ही स्वरूप है । किंतु इस रहस्यको लोग जानते नहीं; इसीसे संसारके विविध रूपोंको देख-देखकर सुखी-दुखी होते हैं । एक बहुरूपिया था, वह पुलिसके किसी बड़े अफसरका स्वाँग धरकर बाजारमें पहुँचा । एक दूकानदारका माल सड़कपर पड़ा था, बहुरूपियेने वहाँ जाकर दूकानदारको धमकाना शुरू किया कि 'तुमने सड़क रोक रक्खी है अतएव तुमपर मुकदमा चलाया जायगा ।' दूकानदार डरकर काँपता हुआ खुशामदें करने लगा । बहुरूपियेका स्वाँग सफल हो गया । तब उसने अपना यथार्थ परिचय देकर दूकानदारसे इनाम माँगा । बस, बहुरूपियेका परिचय मिलते ही दूकानदार निर्भय होकर हँसने लगा । उसकी सारी विकलता क्षणभरमें हँसीके रूपमें बदल गयी । बहुरूपिया अब भी अफसरके वेषमें ही है, वही रूप दूकानदारको दीख रहा है; परंतु रहस्य खुल जानेसे भावमें महान् अन्तर पड़ गया । इसी प्रकार परमेश्वर अपनी योगमायासे विश्वरूप बने हुए क्षण-क्षणमें स्वाँग बदल रहे हैं और लोग उनका रहस्य न जाननेके कारण डरते और व्याकुल होते हैं । यदि हम प्रत्येक रूपमें भगवान्‌को पहचान लें, भगवान्‌का यह रहस्य हमारे लिये खुल जाय तो फिर कोई भी भय या व्याकुलता नहीं रह सकती । जैसे बहुरूपिया अपना भेद खोल देता है, वैसे ही भगवान् भी जब दया करके अपना रहस्य खोल देते हैं, तब भक्त उसी क्षण निर्भय और सुखमय बन जाता है; क्योंकि वह फिर सर्वत्र, सब समय, केवल एक आनन्दरूप भगवान्‌को ही देखता है ।

प्रभाव

सामर्थ्य, शक्तिविशेष या तेजको प्रभाव कहते हैं। ईश्वरका प्रभाव अपरिमेय है। इसीलिये कहा जाता है कि ईश्वर असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। समस्त संसारका उद्धार होना असम्भव-सा है, परंतु ईश्वर चाहें तो एक ही क्षणमें कर सकते हैं; क्योंकि वे अपरिमित प्रभावशाली और सर्वशक्तिमान् हैं। उनके पूर्ण प्रभावको देव, दानव और महर्षिगण भी नहीं जानते। वे स्वयं ही अपने आपको जानते हैं। एक क्षणमें वे समस्त संसारका सृजन और संहार कर सकते हैं। श्रुति, स्मृति, गीता आदि ग्रन्थोंमें उनके प्रभावका वर्णन भरा पड़ा है। सारी शक्तियाँ उन्हींकी शक्तिका एक अंश हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०। ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगशक्तिके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जो मूढ़तासे किसी भी शक्तिविशेषको अपनी मान बैठता है, वह गिर जाता है। एक बार इन्द्र, अग्नि और वायु देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्तकर अपनी शक्तिका गर्व किया था, इसीलिये उन्हें यक्षरूप ब्रह्मके सामने नीचा देखना पड़ा। यह कथा 'केन उपनिषद्' में है।

भगवान्‌का वास्तविक प्रभाव भगवान्‌का शरण लेनेपर भगवान्‌की कृपासे ही जाना जा सकता है। अतएव हम सबको भगवान्‌के शरण होना चाहिये।

गुण

परमेश्वर गुणातीत हैं और सर्व-सद्‌गुणोंसे पूर्ण हैं। उनके गुण अनन्त हैं, असीम हैं, शेष-शारदा आदि भी उनके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य क्या वर्णन करे? उनके गुणोंका वाणीसे वर्णन करना वैसा ही है जैसे अनन्त धनराशिके स्वामीको लखपती कहना अथवा सूर्यके साथ जुगुनूके समुदायकी उपमा देना। उस अनन्त गुणसागर प्रभुके एक गुणका भी भलीभाँति समझना और समझाना अत्यन्त ही कठिन है, फिर सब गुणोंका वर्णन तो हो ही कैसे सकता है? तथापि शास्त्रोंके आधारपर कुछ लिखा जाता है।

भगवान् परम प्रेममय हैं। सारे संसारका प्रेम एक जगह इकट्ठा किया जाय तो वह भी प्रेममय प्रभुके प्रेमसागरकी एक बूँदके समान भी शायद ही हो।

भगवान्‌का प्रकाश अलौकिक है। करोड़ों सूर्योंके इकट्ठे होनेपर भी शायद ही उनके प्रकाशके सदृश प्रकाश हो। समस्त संसारको एक सूर्य प्रकाशित करता है। ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्तकोटि सूर्योंको प्रकाश देनेवाले परमेश्वरके प्रकाशको समझानेका प्रयास करना खद्योतमण्डलीके प्रकाशसे सूर्यके प्रकाशको समझानेकी चेष्टाके समान ही है।

सर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानकी तो बात ही विलक्षण है। वह ज्ञानरूप ही है। सारे संसारके जीवोंका ज्ञान एकत्र करनेपर भी

उसे परमात्माके ज्ञानके एक क्षुद्र परमाणुका आभास बतलाना भी अत्युक्ति न होगा।

भगवान्‌की उदारताका तो कहना ही क्या है। विष देनेवाली पूतनाको भी जिसने परमगति दी, उसकी उदारताका अंदाजा कैसे लगाया जाय?

अभय तो भगवान्‌का स्वरूप ही है। जिस प्रभुके रहस्य और प्रभावको जान लेनेमात्रसे अथवा जिसके नाम-स्मरणसे ही मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है, उस अभयरूप भगवान्‌के अभय-गुणको कैसे समझाया जाय?

दयाके तो आप सागर ही हैं। पापी-से-पापी जीव भी यदि उनके शरण चला जाता है तो उसे सदाके लिये पापमुक्त कर अपना अभयपद दे देते हैं। जिसको कोई नहीं अपनाता, उसे भी शरणागत होनेपर प्रभु अपना लेते हैं।

भगवान्‌की पवित्रताका अनुमान कौन करे? जिसके नाम-जप, गुण-गान और स्वरूप-चिन्तनसे महापापी मनुष्य भी परम पवित्र बन जाता है। इसीलिये पितामह भीष्मने 'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्' कहा था। उस भगवान्‌को पवित्रताका स्वरूप कैसे बतलाया जाय?

भगवान् महान् ब्रह्मचारी हैं। कामदेव तो उनके चिन्तन करनेवाले भक्तोंके पास भी नहीं आ सकता। भगवान्‌ने श्रीकृष्ण-रूपमें प्रकट होकर गोप-बालाओंके साथ निर्दोष काम-गन्ध-शून्य रासक्रीड़ा करते हुए गोप-बालाओंके द्वारा कामका मद चूर्ण करवाया था। जिसके ध्यान और चिन्तनसे ही मनुष्य ब्रह्मचारी बन जाता है, उस महान् ब्रह्मचारीके ब्रह्मचर्यकी महिमा कौन गा सकता है!

भगवान् क्षमाकी तो मूर्ति ही हैं । बिना ही कारण भृगुजीने आपके वक्षःस्थलपर लात मार दी, उसकी ओर कुछ भी ध्यान न देते हुए आपने उनके पैर पलोटते हुए उलटे यह कहा कि 'मेरी छाती कठोर है, कहीं आपको चोट तो नहीं लग गयी' और उस लातके चिह्नको सदाके लिये भूषणरूपसे आपने धारण कर लिया । भरी सभामें गाली देनेवाले शिशुपालके सैकड़ों अपराधोंको क्षमा करके उसे आपने मुक्ति दे दी ।

अद्वेष्टा तो आपका स्वभाव ही है । द्वेषकी आपमें गन्ध ही नहीं है । द्वेष करनेवालोंको भी आप दण्ड देकर उद्धार करते हैं । भगवान्‌की तो बात ही क्या है, भगवान्‌के भक्तोंका भी स्वाभाविक धर्म अपकार करनेवालोंका उपकार करना होता है ।

सत्य तो भगवान्‌का स्वरूप ही है । समस्त संसारमें जो सत्ता प्रतीत होती है, उसके वही अधिष्ठान हैं । सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पृथ्वी आदि सब जिस सत्यके आधारपर स्थित हैं, वह सत्य उन भगवान्‌का ही स्वरूप है । समस्त संसार उन सत्यस्वरूप परमात्माके सत्यके आधारपर ही स्थित है ।

भगवान् परम वैराग्यवान् हैं । गुणमय समस्त संसारको धारण करके भी आप गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं । सारा संसार जिनका कुटुम्ब है, ऐसे सबका भरण-पोषण करनेवाले बहुकुटुम्बी होनेपर भी आप किसीमें आसक्त नहीं हैं । सदा सबसे निर्लेप रहते हैं ।

भगवान् बड़े अमानी हैं । सम्पूर्ण लोकोंके परम माननीय होनेपर भी स्वयं सर्वथा अमानी हैं और सबको मान देते हैं । इसीसे आपके नाम हैं—'अमानी मानदः ।'

दानशीलता तो आपकी अनोखी ही है । कल्पवृक्षसे भी

उसकी उपमा नहीं दी जा सकती; क्योंकि कल्पवृक्ष तो मुँहमाँगा बुरा-भला दे देता है, वह हिताहित नहीं देखता। परंतु आप तो ऐसे हैं कि बुरी चीज तो माँगनेपर भी नहीं देते। नारदजीको विवाह नहीं करने दिया। और उचित समझनेपर, थोड़ा माँगनेवालोंको भी बहुत दे देते हैं। जैसे ध्रुवको राज्य माँगनेपर आपने मुक्ति भी दे दी।

शान्ति और आनन्द तो भगवान्‌का स्वरूप ही है, जिसके शरण होनेसे मनुष्य परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है, उसके शान्ति और आनन्दकी उपमा किसके साथ दी जाय ?

भगवान्‌के अनन्त और अपरिमेय गुण हैं, श्रीपुष्पदन्ताचार्य कहते हैं—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

(शिवमहिम्नःस्तोत्र ३२)

'हे परमेश्वर ! यदि समुद्रकी दावात बनाकर उसमें कज्जलगिरिकी स्याही बनायी जाय और कल्पवृक्षकी शाखाको कलम बनाकर उससे पृथ्वीरूपी कागजपर स्वयं सरस्वतीदेवी सदा-सर्वदा आपके गुणोंको लिखती रहें तब भी आपके गुणोंका पार नहीं पा सकतीं।'

उपर्युक्त सब बातोंको समझकर मनुष्यको उचित है कि नित्य-निरन्तर सब प्रकारसे श्रीपरमात्माकी शरण होनेमें ही अपना अमूल्य समय लगावे। जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न बितावे। बस, यही समयका सदुपयोग है।

उपासनाका तत्त्व

शास्त्र और महात्माओंके अनुभवसे यह सिद्ध है कि साकार और निराकार दोनों प्रकारके उपासकोंको परमगति प्राप्त हो सकती है। साकारके उपासकको सगुण भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं, निराकारके उपासकको उसकी इच्छा न रहनेके कारण नहीं होते। साकार ईश्वरकी उपासना ईश्वरका प्रभाव समझकर की जानेसे सफलता शीघ्र होती है। साकार ईश्वरके प्रभावको समझनेका यही मतलब है कि साधक उस एक ईश्वरको ही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् समझे। जिस शिव या विष्णुरूपकी वह उपासना करे, उसके लिये उसे यह न समझना चाहिये कि मेरा इष्टदेव ईश्वर केवल इस मूर्तिमें ही है, और कहीं नहीं है। ईश्वरमें इस तरहकी परिमित बुद्धि एक तरहका तामस ज्ञान है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिये अथवा कोई भाई सरलभावसे तत्त्व न समझकर केवल मूर्तिमात्रमें ईश्वर समझकर ही उसकी उपासना न करें। किसी भी भाँति उपासनामें प्रवृत्त होना तो सर्वथा उपासना न करनेकी अपेक्षा उत्तम ही है, परंतु यह ज्ञान अल्प होनेके कारण इससे की हुई उपासनाका फल बहुत देरसे होता है। अल्पज्ञानकी उपासनामें यदि हानि है तो केवल यही है कि इसकी सफलतामें विलम्ब हो जाता है; क्योंकि इसमें उपासक उपास्य वस्तुका महत्त्व कम मान लेता है।

कोई अग्निका उपासक यज्ञके लिये अग्नि प्रज्वलित करके यदि यह मान ले कि बस, यहीं इतनी ही दूरमें अग्नि है, और कहीं नहीं है तो इससे वह अग्निका महत्त्व कम करता है; वह एक व्यापक वस्तुको छोटी-सी सीमामें बाँध देता है। इसके विपरीत जो उपासक यह समझता है कि अग्नि वास्तवमें सर्वत्र व्यापक है परंतु अव्यक्त होनेके कारण सब जगह दीखता नहीं, प्रकट होनेपर ही दीखता है और चेष्टा करते ही वह प्रकट हो सकता है। यदि अभाव होता तो वह किसी भी जगह किसी भी वस्तुमें प्रकट कैसे होता? जैसे प्रज्वलित अग्नि हवनकुण्डमें दीखता है, परंतु है सर्वत्र। इसी प्रकार भगवान् भी निराकाररूपसे सर्वत्र समभावसे व्याप्त हैं, भक्तके प्रेमसे साकाररूपसे प्रत्यक्ष होते हैं। निराकार ही साकार है और साकार ही निराकार है। इस प्रकार समझना ही साकारका प्रभाव और तत्त्व समझना है। असलमें ईश्वरके साथ अग्निकी तुलना नहीं की जा सकती। यह तो एक दृष्टान्तमात्र है; क्योंकि अग्नि परमात्माकी भाँति ही सर्वव्यापी नहीं है। एक स्थानमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँचों वस्तुएँ सर्वव्यापी नहीं हो सकतीं। सर्वव्यापी परमात्मा तो कारणका भी महाकारण है, इसलिये वह सबमें स्थित है। कार्य कभी सर्वव्यापी नहीं होता, व्यापक कारण होता है। जगत्‌का कारण प्रकृति है; परंतु परमात्मा तो उसका भी कारण होनेसे महाकारण है। प्रकृति जड होनेसे अपने जड कार्यका कारण हो सकती है; परंतु वह चेतन्य परमात्माका कारण नहीं

हो सकती । अतएव परमात्मा ही सबका महाकारण है, वही जड-चेतन सबमें सदा पूर्णरूपसे स्थित है । सबके नष्ट होनेपर भी उसका नाश नहीं होता, वह नित्य अनादि है ।

निराकार ब्रह्मका स्वरूप सत्, विज्ञान, अनन्त, आनन्दघन है । 'सत्' उसे कहते हैं, जिसका कभी अभाव या परिवर्तन न हो, जिसमें कभी कोई विकार न हो और जो सदा एकरस एकरूप रहे । 'विज्ञान' से बोध, चेतन, शुद्ध-ज्ञान समझना चाहिये । 'अनन्त' उसे कहते हैं, जिसकी कोई सीमा न हो, कोई माप-तौल न हो, जिसका कहीं आदि-अन्त न हो, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्-से-महान् हो, समस्त संसार जिसके एक अंशमें स्थित हो । 'आनन्दघन' से केवल आनन्द-ही-आनन्द समझना चाहिये, 'घन' का अर्थ यह है कि उसमें आनन्दके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको किसी प्रकार भी अवकाश नहीं है । जैसे बर्फमें जल घन है, इसी प्रकार परमात्मा आनन्दघन है । बर्फ तो साकार, जड, कठोर है; परंतु परमात्मा चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, निराकार है । इस प्रकारका निराकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है ।

परमात्माकी आनन्दरूपताका वर्णन नहीं हो सकता, वह अनिर्वचनीय है । यदि आपको किसी समय किसी कारणसे महान् आनन्दकी प्राप्ति हुई हो तो उसे स्मरण कीजिये । उससे बड़ा आनन्द वह है जो सच्चे मनसे किये हुए सत्सङ्ग, भजन या ध्यान-द्वारा उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन गीताके अध्याय १८ श्लोक ३६, ३७ में है । इस सुखके सामने भोगसुख सूर्यके सामने खद्योतके

सदृश भी नहीं है। परंतु यह सुख भी उस परम आनन्दरूप ब्रह्मका एक अणुमात्र ही है; क्योंकि ब्रह्मानन्दके अतिरिक्त अन्य आनन्दघन नहीं हैं, एक सीमामें हैं, उनमें दूसरोंका अवकाश है।

उसी आनन्दरूप परमात्माका सब विस्तार है। उस परमात्मामें संसार वैसे ही समाया हुआ है, जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब। वास्तवमें है नहीं, समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। दर्पण तो जड और कठोर है; परंतु वह परमात्मा परम सुखरूप होनेपर भी चेतन है तथा वह इस प्रकार घनरूपसे व्याप्त है कि उसकी किसीसे तुलना ही नहीं की जा सकती। उसकी घनता किसी पत्थर, शिला, बर्फ आदि-जैसी नहीं है, इनमें तो अन्य पदार्थोंके लिये गुंजाइश भी है। परंतु उसमें किसीके लिये कुछ भी गुंजाइश नहीं है। जैसे इस शरीरमें 'मैं' (आत्मा) इतना सूक्ष्म घन है कि उसके अंदर दूसरेको कभी स्थान नहीं मिल सकता। शरीर, मन, बुद्धि आदिमें किसी दूसरेका प्रवेश हो सकता है; परंतु उस आत्मामें किसीका प्रवेश किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वह सर्वव्यापी निराकार परमात्मा भी घन है।

उसकी चेतनता भी विलक्षण है। इस शरीरमें जितनी वस्तुएँ हैं वह सब जड हैं, इनको जाननेवाला चेतन है। जो पदार्थ किसीके द्वारा जाना जाता है वह जड है, दृश्य है, वह आत्माको नहीं जान सकता। हाथ-पैर आत्माको नहीं जानते, पर आत्मा उनको जानता है। वही सबको जानता है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है, वह ज्ञान ही परमेश्वर है, जो सब जगह है।

ऐसी कोई जगह नहीं है जो उससे रहित हो, इसीसे श्रुति उसे कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।'

वही ब्रह्म भक्तोंके प्रेमवश उनके उद्धारार्थ साकाररूपसे प्रकट होकर उन्हें दर्शन देते हैं । उनके साकार रूपोंका वर्णन मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है; क्योंकि वह अनन्त हैं । भक्त जिस रूपसे उन्हें देखना चाहता है वह उसी रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देते हैं । भगवान्‌का साकार रूप धारण करना भगवान्‌के अधीन नहीं, पर प्रेमी भक्तोंके अधीन है । अर्जुनने पहले विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा प्रकट की और फिर चतुर्भुजकी । भक्त-भावन भगवान् कृष्णने अर्जुनको थोड़ी ही देरमें तीन रूपोंसे दर्शन दे दिये और उसे निराकारका भाव भी भलीभाँति समझा दिया । इसी प्रकार जो भक्त परमात्माके जिस स्वरूपकी उपासना करता है उसको उसी रूपके दर्शन हो सकते हैं ।

अतएव उपासनाके स्वरूप-परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं । भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, देवी, गणेश आदि किसी भी रूपकी उपासना की जाय, सब उसी परमात्माकी होती है । भजनमें कुछ भी बदलनेकी जरूरत नहीं है । बदलनेकी जरूरत है, यदि परमात्मामें अल्पबुद्धि हो तो उसकी । भक्तको चाहिये वह अपने इष्टदेवकी उपासना करता हुआ सदा यह समझता रहे कि मैं जिस परमात्माकी उपासना करता हूँ वही परमेश्वर निराकाररूपमें चराचरमें व्यापक है, सर्वज्ञ है, सब कुछ उसीकी दृष्टिमें हो रहा है । वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न,

सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन मेरा इष्टदेव परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये उनके इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारणकर अनेक लीला करता है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषके लिये परमात्मा कभी अदृश्य नहीं होते और न वह कभी परमात्मासे अदृश्य होता है।

श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह एकीभावसे मुझमें ही स्थित है।'

निराकार-साकारमें कोई अन्तर नहीं है, जो भगवान् निराकार हैं वही साकार बनते हैं।

भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

क्यों प्रकट होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर भी भगवान् ही देते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(गीता ४ । ७-८)

'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकार-रूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

इस प्रकार अविनाशी निर्विकार परमात्मा जगत्के उद्धारके लिये भक्तोंके प्रेमवश अपनी इच्छासे स्वयं अवतीर्ण होते हैं। वे प्रेममय हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया प्रेम और दयासे ओतप्रोत है। वे जिनका संहार करते हैं उनका भी उद्धार ही करते हैं। उनका संहार भी परम प्रेमका ही उपहार है, परंतु अज्ञ जगत् उनके दिव्य जन्म-कर्मोंकी लीलाका यथार्थ रहस्य न समझकर नाना प्रकारके संदेह करता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

'हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं, इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है वह शरीरको

त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतोंके परम गति और परम आश्रय हैं। वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं। अतएव उन परमेश्वरके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, यों समझकर जो पुरुष उनका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित होकर संसारमें बर्तता है, वही वास्तवमें उनको तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषको इस दुःखरूप संसारमें फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

भगवान्‌के जन्म-कर्म कैसे दिव्य हैं, इस तत्त्वको जो समझ लेता है वही सच्चा भाग्यवान् पुरुष है। उज्ज्वल, प्रकाशमय, विशुद्ध, अलौकिक आदि शब्द दिव्यके पर्यायवाची हैं। भगवान्‌के जन्म-कर्मोंमें ये सभी घटित होते हैं। उनके कर्म संसारमें विस्तृत होकर सबके हृदयोंपर असर करते हैं, कर्मोंकी कीर्ति ब्रह्माण्डभरमें छा जाती है। जो उनका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनका हृदय भी उज्ज्वल बन जाता है, इसलिये वे उज्ज्वल हैं। उनकी लीलाका जितना ही अधिक विस्तार होता है, उतना ही अन्धकारका नाश होता है। जहाँ सदा हरि-लीला-कथा होती है वहाँ ज्ञान-सूर्यका प्रकाश छा जाता है, पाप-तापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसलिये वे प्रकाशमय हैं। उनके कर्मोंमें किसी प्रकारका स्वार्थ या अपना प्रयोजन नहीं है, कोई कामना नहीं है,

किसी पापका लेश नहीं है, मलरहित हैं, इसलिये वे शुद्ध हैं। उनके-जैसे कर्म जगत्में कोई नहीं कर सकता। ब्रह्मा, इन्द्रादि भी उनके कर्मोंको देखकर मोहित हो जाते हैं। जगत्के लोगोंकी कल्पनामें भी जो बात नहीं आ सकती, जो बिल्कुल असम्भव है, उसको भी वे सम्भव कर देते हैं, अघटन घटा देते हैं; जीवन्मुक्त या कारक सबकी अपेक्षा अद्भुत हैं, इसलिये वे अलौकिक हैं। उनका अवतार सर्वथा शुद्ध है। अपनी लीलासे ही आप प्रकट होते हैं। वे प्रेमरूप होकर ही सगुणरूपमें प्रकट होते हैं। प्रेम ही उनकी महिमामयी मूर्ति है, इसलिये प्रेमी पुरुष ही उनको पहचान सकते हैं। इस तत्त्वको समझकर जो प्रेमसे उनकी उपासना करते हैं, वे भाग्यवान् बहुत ही शीघ्र उन प्रेममयके प्रेमपूर्ण वदनारविन्दका दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। अतएव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सब उनके चारु चरणोंमें अर्पण कर दिन-रात उन्हींके चिन्तनमें लगे रहना चाहिये। उनका प्रेमपूर्ण आदेश और आश्वासन स्मरण कीजिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२।८)

'मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मुझको ही प्राप्त हो जायगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'